भारत-स्वातन्त्र्य-स्वर्ण-जयन्ती-ग्रन्थमाला-2

50

न्याय-वैशेषिक

एक चिन्तन

रामगूर्ति शर्मा

योऽनूचानः स नो महान्

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्

भारत-स्वातन्त्र्य-स्वर्णजयन्ती ग्रन्थमाला - 2

न्याय-वैशेषिक

एक चिन्तन

रामपूर्ति शर्मा

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

भारत-स्वातन्त्र्य-स्वर्णजयन्ती-ग्रन्थमाला—2

न्याय-वैशेषिक

एक चिन्तन

राममूर्ति शर्मा

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

1998

प्रकाशक :

राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान

५६-५७, इंस्टीट्यूशन एरिया

जनकपुरी, नवदेहली-११००५८

दूरभाष: ५५४०९९३, ५५४०९९५

प्रथम सस्करण १९९८

विक्रम संवत् २०५४

मूल्य १००/- रु०

मुद्रक

अमर प्रिंटिंग प्रैस

दिल्ली-९ दूरभाष : ७२५२३६२

पुरोवाक्

योऽनूचानस्स नो महान् के अनुरूप संस्कृत के संरक्षण, संवर्धन तथा प्रचार-प्रसार के लिए सन्नद्ध राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्ण-जयन्ती को विविध शैक्षिक कार्यक्रमों के द्वारा मना रहा है, यह संस्कृतानुरागियों के लिए अपार हर्ष का विषय है । संस्कृत की प्राचीन शास्त्रीय परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में संस्थान का योगदान संस्कृत जगत् में सुविदित है ।

भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्णजयन्ती के शुभ अवसर पर देश के विभिन्न प्रान्तों के मूर्धन्य मनीषियों द्वारा संस्कृत के विविध शास्त्रों एवं उनमें निहित वैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित महत्वपूर्ण ग्रन्थों को **भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थमाला** के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है ।

न्याय वैशेषिक : एक चिन्तन नामक यह ग्रन्थ पंजाब विश्वविद्यालय के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के पूर्व इमिरिटस फैलो **प्रोफेसर राममूर्ति शर्मा** द्वारा प्रणीत है । प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रो० शर्मा ने प्रमाण एवं प्रमेय के आधार पर न्याय एवं वैशेषिक दर्शन का तुलनात्मक विवेचन सरल एवं प्रासादिक शैली में प्रस्तुत किया है । न्यायशास्त्र जैसे दुरूह दार्शनिक विषय को सर्वजनसुलभ कराने वाले ऐसे उपादेय ग्रन्थ को अल्प समय में प्रस्तुत करने के लिए संस्थान उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता है ।

भारत की स्वातन्त्र्य-स्वर्ण जयन्ती महोत्सव के उपलक्ष्य में संस्थान द्वारा आयोज्यमान विविध शैक्षिक अनुष्ठानों, विशेषतः ग्रन्थमाला के आयोजन, प्रकाशन आदि कार्यों में सक्रिय भूमिका निभाने वाले हमारे सहयोगी डा० सविता पाठक, डा० विरूपाक्ष वि० जड्डीपाल आदि साधुवाद के पात्र हैं ।

अमर प्रिंटिंग प्रेस ने अल्प समय में अथक परिश्रम कर भारत स्वातन्त्र्य-स्वर्णजयन्ती समारोह के उपलक्ष्य में नई दिल्ली में आयोजित राष्ट्रिय संगोष्ठी में ग्रन्थ का लोकार्पणार्थ प्रस्तुत कर हमारा सहयोग किया है। इसलिए हम उनके आभारी हैं।

दिनांक २६.३.९८

कमलाकान्त मिश्र
निदेशक
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

भूमिका

भारतीय न्यायविद्या (Indian logic) का आधार न्यायवैशेषिक है। ये दोनों समान तन्त्र हैं, तथा दोनों का समान उद्देश्य है, अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनों का एक साथ अनुशीलन किया गया है। वस्तुतः न्याय, वैशेषिक का प्रतितन्त्र सिद्धान्त है।

न्यायशब्द का अर्थ

वात्स्यायन के अनुसार प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व का परीक्षण न्याय है– "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।" (वात्स्यायन भाष्य, १/१/१) पारिभाषिक अर्थ में, प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन परार्थानुमान के इन पाँच अवयवों को न्याय कहते हैं। न्याय शब्द का अर्थ आन्वीक्षिकी भी किया गया है। कौटिल्य (३२० ई. पू.) ने अपने अर्थशास्त्र (द्वितीय अध्याय) के अन्तर्गत न्याय अथवा वैशेषिक का उल्लेख न करके, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति के अध्ययन पर बल दिया है। कौटिल्य लिखते हैं" सांख्यं योगो, लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी। धर्माधर्मौ त्रय्याम्। अर्थानर्थौ वार्तायाम्। बलाबलं चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा आन्वीक्षिकी लोकस्योपकरोति। प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥ अनुमान की प्रक्रिया का 'हेतु' प्राण है। अतः न्याय, 'हेतुशास्त्र' एवं हेतुविद्या के रूप में भी प्रख्यात है। 'वादविद्या' एवं 'तर्कविद्या' के रूप में भी न्याय शब्द का व्यवहार होता है। प्रमाण शास्त्र के रूप में भी न्याय शब्द का प्रचलन देखने में आता है।

न्याय की प्राचीनता

जिज्ञासा, तर्क एवं प्रमाण, मानव की मन-बुद्धि के स्वभाव हैं। जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा स्वाभाविक है। अत एव अनुमान के द्वारा मानव ईश्वर को जगत् का स्रष्टा मानता है। वस्तुज्ञान में सन्देह होने पर मनुष्य प्रमाण की शरण लेता है। ये तथ्य न्याय की स्वाभाविकता एवं उपादेयता को प्रकाशित करते हैं। यदि देखा जाय, तो वास्तविकता का निर्णय, न्याय ही करता है। न्यायदर्शन का वास्तविक मूलाधार उक्त मानवीय प्रवृत्ति में ही अन्तर्निहित है। इसी प्रवृत्ति का शास्त्रीय स्वरूप मीमांसा में उस समय देखने को मिलता है, जब वैदिक अनुष्ठानों के विरोध को देखकर, उनके समर्थन में तर्क का उपयोग किया जाता था। इसी आधार पर मीमांसा को भी 'न्याय' का नाम दिया गया था। अत एव प्राचीन काल में न्याय को मीमांसा का आत्मज कहा जाता था, किन्तु उत्तरकाल में वही न्यायवैशेषिक के द्वारा दत्तकपुत्र के रूप में स्वीकार किया गया था। उपनिषदों के अन्तर्गत भी न्यायशास्त्र के सूत्र स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर, होते हैं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत, पुरीतति नामक नाडी में, अन्य नाडियों के द्वारा, आत्मा (अन्तःकरण) के स्थित होने के सिद्धान्त को न्यायशास्त्र में स्वीकार कर, आत्मा के स्थानपर 'मन' को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (७/१४/१) के अन्तर्गत आकाश को शब्द का वाहक कहना, उत्तरवर्त्ती न्याय सिद्धान्त का ही बीज है। इसी प्रकार श्वेताश्वतर, मुण्डक आदि उपनिषदों में भी न्यायदर्शन के सुस्पष्ट सिद्धान्तसूत्र उपलब्ध होते हैं। वैदिक काल के पश्चात् न्याय दर्शन के उदय का द्वितीय चरण, वह कहा जा सकता है, जब वेदानुसर्ता हिन्दुओं एवं गौतम बुद्ध के शिष्यों में एक दूसरे के मतखंडनार्थ परस्पर असंबद्ध एवं पक्षपात पूर्ण विवाद हो रहे थे। ऐसी स्थिति में दोनों ही सम्प्रदायों के निष्णात विद्वानों ने अपने-अपने सम्प्रदायों को सुसम्बद्ध एवं सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया था, एवं च वैदिक धर्म-दर्शन के प्रतिपादक हिन्दुओं एवं भगवान् बुद्ध के शिष्यों, दोनों ने ही एक दूसरे के मत को दृष्टि में रखकर, अपने अपने सम्प्रदायों को सुसम्बद्ध सैद्धान्तिक प्रस्थापना के द्वारा समृद्ध किया था। दोनों की सुसम्बद्ध खण्डन

प्रक्रिया में न्याय वैशेषिक का मूल स्वरूप वर्तमान था। जहाँ तक भारतीय षट्-दर्शन की प्राचीनता का प्रश्न है, बौद्धों के त्रिपिटकों एवं जैनों के मूल ग्रन्थों-आगम ग्रन्थों (५९९ से ५२७ ई. पू.) में भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों एवं न्याय-वैशेषिक के बहुत से सिद्धान्तों के स्पष्ट संकेत-उल्लेख मिलते हैं। निदर्शनार्थ, बौद्धसुत्तों में न्याय एवं वैशेषिक तथा सांख्य एवं योग के स्पष्ट एवं अस्पष्ट संकेत मिलते हैं। इसी प्रकार, जैनों के आगम ग्रन्थों में, प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण, प्रमेय एवं जाति आदि पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इससे न्याय वैशेषिक का बौद्धों से प्राचीनतर होना सिद्ध होता है। बुद्ध का समय ५२४-५४४ ई. पू. एवं महावीर का समय, ५९९ ५२७ ई. पू. है। इसके लगभग एक शताब्दी के पश्चात् दोनों के मूल ग्रन्थों क्रमशः त्रिपिटकों एवं आगम ग्रन्थों का संकलन किया होगा। इस संकलन के मूल में हिन्दुओं की वैदिक धर्म में आस्था रही होगी, जिसके निराकरण के लिए बौद्धों एवं जैनों ने त्रिपिटकों एवं आगम ग्रन्थों का संकलन किया होगा। वैशेषिक एवं न्याय, दोनों के प्रथम प्रामणिक ग्रन्थ कणाद का वैशेषिक सूत्र एवं गौतम का न्याय सूत्र है। वैशेषिक सूत्रों का रचना काल, ५०० ई. पू. एवं न्याय सूत्रों का रचना काल १५० ई. पू. है।

इस प्रकार वैशेषिक सूत्र न्यायसूत्र से प्राचीनतर हैं। वैशेषिक सूत्र का प्रारम्भ धर्म के स्वरूपनिरूपण से किया गया है—"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"। वैशेषिक दर्शन वेदों की प्रामाणिकता धर्म के आधार पर स्वीकार करता है। इतर आस्तिक दर्शनों के समान वैशेषिक का उद्देश्य भी निःश्रेयस की प्राप्ति है, जो कणाद, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय—इन सप्तपदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य से साध्य तत्त्वज्ञान से प्राप्तव्य मानते हैं। यद्यपि कणाद ने 'अभाव' का अनेक अर्थों में प्रयोग किया है, किन्तु वे अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते। उदयन ने लक्षणावली के अन्तर्गत 'भाव' एवं 'अभाव' पदार्थों का भेदनिरूण तो किया है, किन्तु सप्तम पदार्थ के रूप में अभाव को शिवादित्य मिश्र ने ही माना है।

यहाँ यह उल्लेख करना अपेक्षित है कि यों तो अरस्तू ने भी पदार्थों का अनुशीलन किया है, किन्तु उसका दृष्टिकोण मात्र विषयों का तर्कपरक एवं वैचारिक है, उसमें वैशेषिकगत, प्रमेय पदार्थों के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पक्ष के उद्‌घाटन का अभाव है । इसी प्रकार कान्ट के सम्बन्ध में, यह कहा जा सकता है कि उसका पदार्थविश्लेषण भी बौद्धिक तोड़ मरोड़-पर ही आधारित है, उसमें भी वैशेषिक जैसी पदार्थमीमांसा का अभाव ही है । जर्मन दार्शनिक हेगल के सम्बन्ध में भी यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वह पूर्ण आदर्शवाद (Absolute idealism) का अनुसर्त्ता होने के कारण भेद में अभेद का प्रतिपादन करता है, किन्तु वैशेषिक अनेकात्मक यथार्थवाद का पक्षपाती होने के कारण, पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्यात्मक विश्लेषण करता है ।

यह सत्य है कि वैशेषिक दर्शन दार्शनिक विश्लेषण की दृष्टि से मीमांसा एवं वेदान्त की श्रेणी में नहीं आता, किन्तु तत्कालीन चार्वाकीय भौतिकवाद से ऊपर उठकर उसने जिस वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया है, तथा आगमन पद्धति (Inductive rearoning) पर बल दिया है, वह निःसन्देह उसकी अविस्मरणीय महत्ता का द्योतक है । यह भी उल्लेखनीय है कि, भले ही वैशेषिक को "अर्ध वैनाशिक" कहा जाय, किन्तु तद्वर्त्ती आध्यात्मिक चिन्तनदृष्टि एवं विश्लेषण ने विविध शास्त्रों पर गम्भीर प्रभाव छोड़ा है—

काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम् ।

वैशेषिकसूत्र के पश्चात् वैशेषिक दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह है, जो प्रशस्तपाद भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है । ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य की टीका प्रकटार्थ विवरण में रावण-भाष्य (वैशेषिक सूत्र पर) का भी उल्लेख, मिलता है । ऐसा माना जाता है कि रावणभाष्य की रचना १३०० ई. से पूर्व हुई होगी । वस्तुतः प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह ही वैशेषिक दर्शन का परम सारतत्त्व है, किन्तु प्रशस्तपाद का स्थिति काल निश्चित नहीं है । बोदास ने तर्कसंग्रह की भूमिका में केवल यही कहा है कि प्रशस्तपाद वात्स्यायन के पूर्ववर्त्ती थे । जो भी हो, प्रशस्तपाद भाष्य की महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि इस पर

अनेक टीकाओं एवं उपटीकाओं का प्रणयन किया गया। इनमें व्योमशिवाचार्य की व्योमवती, श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली एवं उदयनाचार्यरचित किरणावली एवं शंकरमिश्र, पद्मनाभमिश्र एवं जगदीश भट्टाचार्य आदि रचित उपटीकाएँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। आधुनिक युग में वीरराघवाचार्य प्रणीत, वैशेषिक सूत्र पर आधारित 'रसायन' नाम्नी टीका (१९४१ ई०) उक्त दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

न्यायदर्शन का आधारभूत ग्रन्थ गोतम अक्षपाद प्रणीत न्यायसूत्र है। न्याय सूत्रों के विषय में सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र ने (९०० ई०) ने न्यायसूचीनिबन्ध के अन्तर्गत विचार किया है। वाचस्पति मिश्र ने इस ग्रन्थ में न्यायसूत्र के अध्यायों (५), आह्निकों (१०), प्रकरणों (८४), सूत्रों (२०६) तथा ८४११ अक्षरों की संख्या भी दी है। वाचस्पतिमिश्रकृत इस गणना के सन्दर्भ में न्यायसूचीनिबन्ध के प्रथम पद्य के अन्तर्गत प्राप्त 'समुद्धरणात्' पद का व्यवहार महत्त्वपूर्ण है (श्री गोतम सुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्)। इससे यह ध्वनित होता है कि वाचस्पतिमिश्र के समय न्यायसूत्रों की स्थिति सन्दिग्ध थी, जिसका उद्धार वाचस्पति मिश्र ने किया था। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने भी न्यायसूत्रों का रचना काल ८९८ ("वस्वङ्कवत्सरे") माना है। परञ्च इन्होंने ८९८ के सामने या पहिले न संवत् लिखा है, और न शक। किन्तु प्रायशः विद्वानों ने ८९८ को विक्रम संवत् मानकर तदनुसार सूत्रों का रचना काल ८४१ ई. स्वीकार किया है। किन्तु दिनेशचन्द्र प्रभृति कतिपय विद्वानों ने ज्ञानश्री एवं रत्नकीर्त्ति द्वारा प्रदत्त तर्कों के आधार पर ८९८ को शक स्वीकार करते हुए, तदनुसार सूत्रों का प्रणयनकाल ९७० ई० निश्चित किया है।

न्यायसूत्रों के स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरा प्रयास वाचस्पति मिश्र-२, के द्वारा न्यायसूत्रोंद्धार नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार सूत्रों की संख्या ५३१ है, तथा सूत्रों का रचना काल १४२८ वि. सं. एवं तदनुसार १३७१ ई० है, या फिर १४२८ को यदि शक संवत् माना जाय तो १५०६ ई० है।

न्यायसूत्रों के सम्बन्ध में तीसरा प्रयास विश्वनाथपञ्चानन द्वारा न्यायसूत्रवृत्ति (१९३४ ई.) के अन्तर्घत किया गया है। इस वृत्ति के अन्तर्गत सूत्रादि की गणना न

कर, न्याय शास्त्र के सामान्य अध्येता के लिए पथप्रदर्शन किया गया है। वृत्ति का प्रकाशन आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज़ द्वारा न्याय भाष्य के साथ किया गया है।

डा. गङ्गानाथ झा ने १९२४ में प्रकाशित अपने न्यायसूत्र भाष्य के संस्करण में ५३२ सूत्रों पर व्याख्यात्मक टिप्पणी की है। इस संस्करण में डा. झा की 'खद्योत' टीका एवं किसी अज्ञात लेखक की 'भाष्यचन्द्र' व्याख्या भी वर्त्तमान है। इन्होंने वाचस्पति मिश्र-१ द्वारा निश्चित न्याय सूत्र के स्वरूप को ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त न्याय सूत्रों के अन्तर्गत षोडश पदार्थों एवं प्रमाण तथा प्रमेय का निरूपण किया है।

न्यायसूत्रों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि (न्याय सूत्रकार) गोतम का उद्देश्य अपनी विशिष्ट तार्किक भाषा एवं तर्क पद्धति के द्वारा प्रतिपक्षियों को परास्त करना था। न्याय सूत्र के अन्तर्गत वाद, जल्प एवं वितण्डा, उक्त तथ्य का ही समर्थन करते हैं। जैसा कि वात्स्यायन ने स्पष्ट किया है, न्यायसूत्रकार, कणाद के एतदर्थ ऋणी हैं कि उन्होंने वैशेषिक सूत्र के कतिपय सूत्र यथावत् अथवा अंशत: ग्रहण किए हैं। न्याय-वैशेषिक के सम्बन्ध में यह तुलनात्मक दृष्टि अपेक्षित हैं कि न्याय सूत्र जहाँ अधिक मौलिक, विशिष्टतर्कभाषामय एवं वस्तुपरक है, वहाँ वैशेषिकसूत्र की चिन्तनदृष्टि न्यायसूत्र की अपेक्षा अधिक समरूपात्मक समन्वयात्मक, आध्यात्मिक एवं अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दृढ़मूल है। चाहे जो भी हो, इतना नि:सन्देह स्वीकार करना होगा कि भारतीय दर्शन के क्षेत्र में न्याय दर्शन की भूमिका अत्यन्त सम्मानजनक रूप में स्वीकार की गई है।

कुछ विद्वानों का मत है कि गोतम एवं अक्षपाद भिन्न थे। इस सम्बन्ध में डा. सतीश चन्द्र विद्याभूषण ने विशेष रूप से विचार किया है। विद्याभूषण जी ने दोनों की भिन्नता में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं—

१. न्याय सूत्र के प्रणयन में दोनों का पृथक् पृथक् योगदान है।

२. प्रमेय, वाद एवं प्रमाण का कुछ अंश, प्रथमत: आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत गोतम के द्वारा निष्पन्न हुआ था।

३. शेषपदार्थनिरूपण तथा क्रमबद्ध एवं समंग्र प्रमाणस्वरूपविचार अक्षपाद के द्वारा सम्पन्न किया गया था ।

४. अक्षपाद गोतम, प्रस्तुत आन्वीक्षिकी के वर्त्तमान न्यायसूत्र के प्रस्तुतकर्त्ता थे, जिस प्रकार कि चरक, आत्रेयप्रणीत आग्निवेशतन्त्र (आयुर्वेद) के सम्पादन कर्त्ता थे। इस सम्बन्ध में तर्कभाषा के सम्पादक अय्यर साहब लिखते हैं" (Dr.S.C.Vidyabhushan is of the opinion that अक्षपाद is not another name for गौतम, but was a different person, that both have contributed to the production of N.S., that प्रमेय, वाद and a portion of प्रमाण were first handled by Gautam under the name of आन्वीक्षिकी, that the other catagories and a fuller and systematic treatment of प्रमाण came from अक्षपाद and that the latter was the redactor of the आन्वीक्षिकी of गौतम into the present N.S. just as चरक was the redactor of अग्निवेश तन्त्र or the आयुर्वेद of आत्रेय (S.R. Iyer, introduction to Tarkabhāṣā, p. 22-23. Chaukhambha, 1979) जैसा कि अय्यर साहब के कथन से स्पष्ट है, विद्याभूषण जी के मत का अक्षरशः अनुकरण करते हुए तर्कभाषा के अनुवादक एवं व्याख्याता आचार्य विश्वेश्वर ने भी लिखा है—

"आयुर्वेद के प्रसिद्धतम ग्रन्थ चरक में इस संस्कारपद्धति, का प्रयोग हुआ है । मूलग्रन्थप्रणेता महर्षि 'अग्निवेश' हैं, परन्तु उसके प्रतिसंस्कर्ता 'चरक' माने जाते हैं । इसी प्रकार न्यायदर्शन के मूल प्रणेता गोतम और उसके 'प्रतिसंस्कर्ता' अक्षपाद हैं, ऐसा मानने में' कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती है ।" (तर्कभाषा की भूमिका, पृ. २७१) ।

स्पष्ट है, विश्वेश्वर का उक्त मत किञ्चिन्मात्र मौलिक नहीं है, अपितु यह विद्याभूषण जी का ही पूर्ण अनुकरण है । गोतम एवं अक्षपाद की भिन्नता के सम्बन्ध में दासगुप्त का मत भी विचारणीय हैं । दासगुप्त का मत विलक्षण है । वे मेधातिथि

गोतम को केवल काल्पनिक पौराणिक नाम मानते हैं। उनका कहना है कि गोतम के द्वारा किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया गया। इस प्रकार दासगुप्त अक्षपाद को ही न्याय सूत्र प्रणेता मानते हैं। वे लिखते हैं—

"Medhatithi Gotam is more or less a mythical person, and there is no proof that he ever wrote any thing"...

Vatsyayan himself refers to Akshpada as the person to whom Nyaya (the science of logic) revealed itself. Udyotkar also refers to Akshpada as the utterer of the Nyayashastra and so also does Vachaspati. There is therefore absolutely no reason why the original authorship of Nyaya should be ascribed to a Gotam as against Akshpada.

The Nyayashastra therefore can not be traced on the evidence of the earliest Nyaya authorities to any earlier Gotam, for had this been so, it would certainly have been mentioned by either Vatsyayan, Udyotkar or Vacaspati. (History of Indian philosophy, vol. II pp. 393-94).

मेधातिथि-गोतम (एक नाम) के न्यायसूत्र के रचयिता होने के सम्बन्ध में दासगुप्त का चोंका देने वाला किन्तु निरर्थक एक तर्क और है, और वह यह कि भास के प्रतिभा नाटक में आए "मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम् का अर्थ, 'मेधातिथेः' में पञ्चमी विभक्ति मानकर मेधातिथि से न्यायशास्त्र पढ़ा' है, जब कि प्रकरणानुसार "मेधातिथेः" में षष्ठी विभक्ति होने के कारण, 'मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्' का अर्थ 'मेधातिथि का न्याय शास्त्र' है।

प्रतिमा नाटक का प्रकरण इस प्रकार है—

"मानवीयं धर्मशास्त्रम् बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम्
मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्"

उपर्युक्त मतों की विवेचना करने पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि गोतम, अक्षपाद एवं मेधातिथि एक ही व्यक्ति के नाम हैं, ये पृथक्-पृथक् कदापि नहीं हैं। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य तर्क विचारणीय हैं। वाचस्पतिमिश्र, जयन्तभट्ट, उदयनाचार्य, एवं श्रीधराचार्य आदि ने गोतम एवं अक्षपाद को एक ही माना है। डा. डी. आर. भण्डारकर ने भी तर्कभाषा की भूमिका में गोतम एवं अक्षपाद को एक ही स्वीकार किया है। वस्तुतः विद्याभूषण का गोतम को न्यायसूत्र का प्रणेता एवं अक्षपाद को प्रतिसंस्कर्त्ता मानना समुचित नहीं है, क्योंकि न्यायसूत्रों की प्रणयनपद्धति एवं भाषा-शैली से, उनके दो पृथक् प्रणेता होना सिद्ध नहीं होता। महाभारत के निम्नोद्धृत स्थलों से भी मेधातिथि गोतम ही न्यायशास्त्र के प्रणेता सिद्ध होते हैं—

चतुर्थश्चौपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः।
वानप्रस्थाद् गृहस्थाच्च ततोऽन्यः संप्रवर्त्तते॥
अस्मिन्नेव युगे तात विप्रः सर्वार्थदर्शिभिः।
मेधातिथिर्बुधः—(महाभारत, शा. प. अ. २४३,१४-१७
मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गोतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्यते न कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्॥

महा. शा. अ. २६५, २४५

प्राचीन न्याय का प्रामाणिक ग्रन्थ यद्यपि न्यायसूत्र है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायशास्त्र की प्राचीनता तत्पूर्ववर्त्ती है। इसका पाणिनि से पूर्ववर्त्ती होना निश्चित ही है।

वस्तुतः न्यायसूत्र की महत्ता इसी से ज्ञात है कि इस पर अनेक भाष्य एवं टीकाग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इस सम्बन्ध में वात्स्यायन (३०० ई०) रचित

न्यायभाष्य, उद्योतकर (६३५ ई०) रचित न्यायवार्त्तिक, वाचस्पति मिश्र (८४० ई०) प्रणीत न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका उदयनाचार्य (९८४ ई०, प्रणीत न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि, जयन्तभट्ट (१००० ई०) कृत न्यायमञ्जरी, वर्धमान (१२२५-ई०) कृत न्यायनिबन्धप्रकाश, श्रीकण्ठकृत न्यायालङ्कार, वाचस्पति मिश्र (द्वितीय १४५० ई०) कृत न्यायसूत्रोद्धार, रामभद्र (१६३० ई०) कृत न्यायरहस्य, जयरामकृत न्यायसिद्धान्तमाला, विश्वनाथकृत न्यायसूत्रवृत्ति एवं गोविन्दकृत न्यायसंक्षेप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बौद्ध-जैन न्याय

उपर्युक्त प्राचीन न्याय एवं गंगेशोपाध्याय प्रवर्त्तित नव्यन्याय के मध्यवर्त्ती न्याय को बौद्ध-जैन न्याय कह सकते हैं। बौद्ध न्याय का प्रवर्तन दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय एवं जैनन्याय का प्रवर्त्तन सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार ग्रन्थ से माना जा सकता है।

बौद्धन्याय के आचार्य एवं ग्रन्थ

बौद्धन्याय के आचार्य एवं ग्रन्थों में दिङ्नाग (५४०-५२० ई०) कृत प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, न्यायप्रवेश, प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश, हेतुचक्रत्रिकालपरीक्षा, आलम्बनपरीक्षा एवं आलम्बनपरीक्षावृत्ति, परमार्थ (४९८-५६२ ई०) कृत वसुबन्धु के तर्कशास्त्र एवं न्यायसूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद एवं न्यायसूत्र पर भाष्य, शंकरस्वामी (५५० ई०) कृत हेतुविद्यान्यायप्रवेशशास्त्र, धर्मपाल (६००-६३५ ई०) कृत आलम्बनप्रत्ययध्यानशास्त्रव्याख्या, विद्यामात्रसिद्धिशास्त्रव्याख्या एवं षट्शास्त्रवैपुल्य व्याख्या, आचार्य शीलभद्र (६३५ ई०), धर्मकीर्त्ति (५६० ई०) कृत प्रमाणवार्त्तिककारिका, प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति, प्रमाण- विनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दुविवरण, तर्कन्याय अथवा वादन्याय, सन्तानान्तरसिद्धिसम्बन्धपरीक्षा एवं सम्बन्धपरीक्षावृत्ति, देवेन्द्रबोधि (६५० ई०) कृत्त प्रमाणवार्त्तिकपञ्जिका, शाक्यबोधि (६७५ ई०)कृत प्रमाणवार्त्तिकपञ्जिकाटीका, विनीतदेव (७०० ई०) कृत न्यायबिन्दु एवं हेतुबिन्दु की टीका, वादन्यायव्याख्या,

सम्बन्धपरीक्षाटीका, आलम्बनपरीक्षाटीका एवं सन्तानान्तरसिद्धिटीका, रविगुप्त (७२५ ई०) कृत प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति, जितेन्द्रबोधि (७२५ ई०) कृत विशालमलवती नाम्नी प्रमाणसमुच्चयटीका, शान्तरक्षित (७४८ ई०) कृत तत्त्वसंग्रह, वादन्यायवृत्ति विपञ्चितार्थ, कमलशील (७५० ई०) कृत न्यायबिन्दु-पूर्वपक्ष एवं तत्त्वसंग्रहपञ्जिका. कल्याणरक्षित (८२९ ई०) कृत सर्वार्थसिद्धिकारिका, बाह्यार्थसिद्धि कारिका, अन्यापोहविचारकारिका, ईश्वरभद्रकारिका एवं श्रुतिपरीक्षा, धर्मोत्तराचार्य (८४७ ई०) कृत न्यायबिन्दुटीका, प्रमाणपरीक्षा, अपोहनामप्रकरणम्, परलोकसिद्धि, क्षणमात्रसिद्धि एवं प्रमाणविनिश्चयटीका, मुक्ताकुम्भ (९०० ई०) कृत क्षणभंगसिद्धि व्याख्या, अर्चट (९०० ई०) कृत हेतुबिन्दुविवरण, अशोक (९०० ई०) कृत अवयविनिराकरण एवं सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता, चन्द्रगोमिन-२ (९२५ ई०) कृत न्यायसिद्ध्यालोक, प्रज्ञाकर गुप्त (९४० ई०) कृत प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार, सहावलम्बनिश्चय, आचार्य जेतारि (९८० ई०) कृत हेतुतत्त्वोपदेश, बालावतारतर्क एवं धर्मधर्मिविनिश्चय, जिन (९४० ई०) कृत प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार टीका, रत्नकीर्त्ति (१००० ई०) कृत अपोहसिद्धि एवं क्षणभंगसिद्धि, रत्नबल (१०४० ई०) कृत युक्तिप्रयोग, जिनमित्र (१०२१ ई०) कृत न्यायबिन्दुपिण्डितार्थ, दानशील (१०२५ ई०) कृत पुस्तकपाठोपाय, ज्ञानश्रीमित्र (१०४० ई०) कृत कार्यकारणभावसिद्धि, ज्ञानश्रीभद्र (१०५० ई०) कृत प्रमाणविनिश्चय टीका, रत्नाकरशान्ति (१०४० ई०) अपरनामकलिकासर्वज्ञकृत विज्ञप्तिमात्रसिद्धि एवं अन्तर्व्याप्ति, शंकरानन्द (१०५० ई०) कृत प्रमाणवार्त्तिकटीका, सम्बन्धपरीक्षानुसार, अपोहसिद्धि एवं प्रतिबन्धसिद्धि, शुभाकर गुप्त (१०८० ई०) मोक्षाकर गुप्त (११०० ई०) कृत तर्कभाषा (तिब्बती अनुवाद भी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैन आचार्य एवं न्याय ग्रन्थ

जैन आचार्य एवं उनके द्वारा प्रणीत न्यायग्रन्थों में, सिद्धसेन दिवाकर (४८०-५५० ई०) कत न्यायावतार, जिनभद्रगणी (४८४-५८८ ई०) कृत आवश्यकनिर्युक्ति की विशेषावश्यकभाष्यटीका, सिद्धरसेन गणी (६०० ई०) कृत तत्त्वार्थटीका, समन्तभद्र (६०० ई०) कृत गन्धहस्तीमहाभाष्य टीका, आप्तमीमांसा,

युक्तीयानुशासन एवं रत्नकरण्डक, अकलंकदेव (७५० ई०) कृत अष्टशती टीका, न्यायविनिश्चय, लघीयस्तत्त्वार्थवार्त्तिक व्याख्यानालङ्कार, अकलङ्कस्तोत्र एवं स्वरूपसम्बोधन, विद्यानन्द (८०० ई०) कृत प्रमाणपरीक्षा आप्तपरीक्षा एवं तत्त्वार्थ श्लोक-वार्त्तिक, माणिक्यनन्दी (८०० ई०) कृत परीक्षामुखसूत्र, प्रभाचन्द्र (८२५ ई०) कृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्रोदय, मल्लवादिन (८२७ ई०) कृतधर्मोत्तरटिप्पण, रभसनन्दी (८५० ई०) कृत सम्बन्धोद्योत, अमृतचन्द्रसूरी (८५० ई०) कृत तत्त्वार्थसार एवं आत्मख्याति, देवसेन भट्टारक (८९९-९५० ई०) कृत न्यायचक्र एवं दर्शनसार, प्रद्युम्नसूरी (९८० ई०), अभयदेव सूरी (१००० ई०) कृत वादमहार्णव एवं तत्त्वार्थबोधविधायिनी, लघुसमन्तभद्र (१००० ई०) कृत अष्टसाहस्रीविषयतात्पर्य टीका, कल्याणचन्द्र (१००० ई०) कृत प्रमाणवार्त्तिक टीका, अनन्तवीर्यः (१०३८ ई०) कृत परीक्षामुखपञ्जिका एवं न्यायविनिश्चयवृत्ति, देवसूरी (१०८६ ई०) कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार एवं स्याद्वादरत्नाकर, चन्द्र प्रभसूरी (११०२ ई०) कृत दर्शनशुद्धि, हेमचन्द्र सूरी (१०८८-११७२ ई०) कृत प्रमाणमीमांसा, अभिधानचिन्तामणि, काव्यानुशास्त्रवृत्ति, छन्दोनुशास्त्रवृत्ति, अनेकार्थसंग्रह, द्वाशर्यमहाकाव्य, त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, योगशास्त्र एवं निघण्टुशेष, नेमिचन्द्रसूरी (११५० ई०) कृत पार्श्वनाथचरित, आनन्दसूरी (१०९३-११३५ ई०) अमरचन्द्र सूरी, हरिभद्र सूरी (११२० ई०) प्रणीत षड्दर्शनसमुच्चय, न्यायप्रवेशकसूत्र, न्यायावतारवृत्ति, दशत्रैकालिकानिर्युक्तिटीका, पार्श्वदेवगणी (११३३ ई०) कृत न्यायप्रवेशपञ्जिका, श्रीचन्द्र (११३७ ई०) प्रणीत न्यायप्रवेशटिप्पण, देवभद्र (११५० ई०) कृत न्यायावतारटिप्पण चन्द्रसेन सूरी (११५० ई०) कृत उत्पादसिद्धिप्रकरण, रत्नप्रभसूरी (११८१ ई०) कृत स्याद्वादरत्नाकरावतारिका, तिलकाचार्य (११८०-१२४०) कृत आवश्यकलघुविवृत्ति एवं प्रत्येकबुद्धचरित, मल्लिसेन सूरी (१२९२ ई०) कृत स्याद्वादमञ्जरी, राजशेखरसूरी, (१३४८ ई०) कृत रत्नावतारपञ्जिका एवं न्यायकन्दली-पञ्जिका, ज्ञानचन्द्र (१३५० ई०) कृत रत्नाक्तारिकाटिप्पण, गुणरत्न (१४०९ ई०) कृत तर्करहस्यदीपिकावृत्ति, श्रुतसागर गणी (१४९३ ई०) कृत तत्त्वार्थदीपिका, धर्मभूषण (१६०० ई०) कृत न्यायदीपिका,

विनयविजय (१६१३-१६८१ ई०) कृत न्यायप्रदीप, तर्कभाषा, न्यायरहस्य, न्यायामृततरङ्गिणी, न्यायखण्डखाद्य, अष्टसाहस्रीविवरण एवं न्यायालोक उल्लेखनीय हैं। प्राचीन एवं नव्य न्याय के मध्यकाल में कतिपय प्रकरणग्रन्थों का सृजन भी हुआ था। यहाँ उनका निरूपण अपेक्षित हैं।

प्रकरणग्रन्थ

जिस प्रकार वेदान्त के उपदेशसाहस्री प्रभृति प्रकरणग्रन्थ उपलब्ध हैं, उसी प्रकार वैशेषिक एवं न्याय के भी प्रकरण ग्रन्थ (hand books) मिलते हैं। वास्तविक तथ्य तो यह है कि १० वीं. शताब्दी तक इन दोनों ही सम्प्रदायों का विशाल साहित्य प्रणीत हो गया था, अत: प्रकरणग्रन्थों (लघुग्रन्थों) की नितान्त अपेक्षा अनुभव की जा रही थी, जिससे कि वैशेषिक एवं न्याय का जिज्ञासु अपेक्षाकृत थोड़े समय में इनका विषयबोध कर सके। ये प्रकरण ग्रन्थ विशेषत: तीन प्रकार के हैं—वैशेषिकप्रकरण ग्रन्थ, न्याय प्रकरणग्रन्थ एवं तर्कप्रकरण ग्रन्थ। प्रथम प्रकार के वैशेषिकप्रकरणग्रन्थों में, छह या सात पदार्थों तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण का निरूपण एवं व्याख्या सम्पन्न हुई है। इनमें शिवादित्य प्रणीत सप्तपदार्थी (११५० ई०) तथा वल्लभाचार्य (१२०० ई०) प्रणीत न्यायलीलावती परिगणीय हैं। सप्तपदार्थी में प्रशस्तपादभाष्य एवं भासर्वज्ञ के न्यायसार का अनुसरण किया गया है, किन्तु न्यायलीलावती एक स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ है। इसकी शैली प्रबलतर्कपूर्ण एवं जटिल है। इसमें बौद्ध न्याय का निराकरण किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि न्यायलीलावती की विषय-सामग्री ने वर्द्धमान, शंकर मिश्र, भगीरथ ठक्कुर एवं रघुनाथ शिरोमणि जैसे नैयायिकों का ध्यान इस पर टीका एवं उपटीका लिखने के लिए प्रेरित किया था। दूसरे प्रकार के न्यायविषयक प्रकरणग्रन्थों में, गोतम द्वारा व्याख्यात षोडश पदार्थों एवं वैशेषिकव्याख्यात प्रमेय की व्याख्या प्रमुख रूप से की गई है। न्याय के प्रकरणग्रन्थों में, भासर्वज्ञ के न्यायसार, वरदराज की तार्किकरक्षा एवं केशव मिश्र की तर्कभाषा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। न्यायसार के लेखक भासर्वज्ञ (१००० ई०) काश्मीरी थे। भासर्वज्ञ ने न्यायसार पर एक विस्तृत टीका, न्याय भूषण का भी प्रणयन किया था। भासर्वज्ञ, भूषणकार

एवं न्यायालङ्करण के नाम से भी जाने जाते थे। तार्किकरक्षा के लेखक वरदराज (१२०० ई०) आन्ध्रप्रदेश के निवासी थे। तर्कभाषा के लेखक केशव मिश्र (१२७५ ई०) हैं। तर्कभाषा का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि इस पर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाओं का प्रणयन मनीषियों-विद्वानों द्वारा किया गया है। इनमें गोवर्धन मिश्र (केशवमिश्र के शिष्य) कृत प्रकाशिका है, गोपीनाथकृत उज्जवला, रोमविल्व वेंकटबुद्धकृत तर्कभाषाभावटीका, रामलिंगकृत न्यायसंग्रह, माधवहेतुकृत सारमञ्जरी, भास्करभट्टकृत परिभाषादर्पण, बालचन्द्रकृत प्रकाशिका, चिन्नभट्टकृत तर्कभाषाप्रकाशिका, गणेशदीक्षितकृत तत्त्वप्रबोधिनी, कौण्डिन्य दीक्षितकृत तर्कभाषाप्रकाशिका, केशवभट्ट कृत तर्कदीपिका, गौरीकण्ठ सार्वभौमकृत तर्कभाषाप्रकाशिका, नागेशभट्टकृत युक्तिमुक्तावली एवं विश्वकर्माकृत न्यायप्रदीप प्रमुखतया उल्लेखनीय हैं। यद्यपि केशवमिश्र की तर्कभाषा के अतिरिक्त मोक्षाकर गुप्त (११०० ई०) द्वारा रचित बौद्ध तर्कभाषा, एवं यशोविजय (१६८८ ई०) द्वारा प्रणीत जैन तर्कभाषा भी उपलब्ध है, किन्तु इन तर्कभाषाओं का वैसा महत्त्व नहीं है, जैसा कि, केशवमिश्र की तर्कभाषा का। केशव मिश्र द्वारा प्रणीत तर्कभाषा में, न्यायसिद्धान्तों का विस्तृत एवं वैशेषिक सिद्धान्तों का अपेक्षाकृत संक्षिप्त निरूपण एवं व्याख्या की गई है। इस प्रकार इस तर्कभाषा में वैशेषिक सिद्धान्तों का निरूपण केवल आनुषंगिक है। तृतीय प्रकार के तर्क-प्रकरण ग्रन्थों में वैशेषिक के सप्त पदार्थों का मूलरूप से निरूपण हुआ है, एवं च प्रमाणचतुष्टय की विशेष व्याख्या की गई है। तर्कप्रकरणग्रन्थों की रचना नव्य-न्याय के आचार्यों के द्वारा निष्पन्न हुई थी, अत एव इनमें वैशेषिक एवं न्याय का समन्वय देखने को मिलता है। उपर्युक्त प्रकरणग्रन्थों की अपेक्षा, तर्कप्रकरण ग्रन्थों की यह विशेषता उल्लेखनीय है। तर्क-प्रकरण ग्रन्थों के अन्तर्गत जगदीश तर्कालङ्कार का तर्कामृत, अन्नंभट्ट रचित तर्कसंग्रह एवं विश्वनाथ पञ्चानन विरचित भाषापरिच्छेद उल्लेखनीय हैं। तर्कग्रन्थों में तर्कसंग्रह एवं कारिकावली, न्याय-वैशेषिक के अध्येताओं के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुए हैं। चतुर्थ प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ कथमपि वे कहे जा सकते

हैं, जिनमें न्याय एवं वैशेषिक का मिश्रित निरूपण है। इस प्रकार के ग्रन्थों में शशधरप्रणीत न्यायसिद्धान्तदीप गृहीत है।

इस प्रकार प्राचीन न्याय, मध्यन्याय एवं तदुत्तरवर्त्ती प्रकरणग्रन्थों की चिन्तनदृष्टि के पश्चात् नव्यन्याय युग (१२०० ई०) का प्रारम्भ होता है। नव्यन्याय युग की विशेषता वैशेषिक एवं न्याय की समन्वयात्मक प्रस्तुति कही जा सकती है, जो उदयन के समय से ही प्रारम्भ हो गई थी। निम्नलिखित विशेषताऐं, प्राचीन एवं नव्य न्याय के भेद को स्पष्ट करती हैं—

१—जैसा कि प्राचीन न्याय का निरूपण करते समय देखा जा चुका है, प्राचीन न्याय के अन्तर्गत न्यायसूत्रों एवं न्यायभाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों का टीकाओं एवं उपटीकाओं की रचना के द्वारा व्याख्यान किया गया था। इस प्रकार न्यायसूत्रों एवं भाष्य के सिद्धान्तों को छोड़कर किसी भी स्वतन्त्र न्यायग्रन्थ का प्रणयन प्राचीन युग में नहीं हुआ।

२—नव्यन्याय के अन्तर्गत सूत्रसिद्धान्तपद्धति से हटकर स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन आरम्भ हुआ। ये ग्रन्थ न्याय-वैशेषिक के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यही नहीं, व्याकरण आदि शास्त्रों के क्षेत्र में भी प्राचीन एवं नवीन की प्रवृत्ति इसी युग में प्रारम्भ हुई।

३—वर्ण्य विषय गत अन्तर भी प्राचीन एवं नव्य न्याय के भेद की रेखाओं को स्पष्ट करता है। उदाहरणार्थ, सूत्रकार गोतम ने पञ्चम अध्याय में केवल 'जाति' एवं 'निग्रह स्थान' का विस्तृत निरूपण किया है, किन्तु इसके विपरीत नव्य न्याय के अन्तर्गत इनका नाममात्र का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार जहाँ अवयव आदि का निरूपण प्राचीन न्याय में न्यून रूप में ही मिलता है, वहाँ नव्यन्याय के अन्तर्गत ये विशेषरूप में व्याख्यात हैं।

नव्यन्याय के शिरोमणि आचार्य तत्त्वचिन्तामणि के लेखक गंगेशोपाध्याय हैं। तत्त्वचिन्तामणि 'मणि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। न्याय दर्शनान के क्षेत्र में गंगेश नवयुग के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इन्होंने जिस क्रान्तिकारी तर्कपद्धति का आविर्भाव किया, वह केवल न्याय शास्त्र के लिए ही उपयोगी नहीं थी, अपि तु समस्त भारतीय

दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त बोध एवं अनुशीलन के लिए भी उसकी महती उपादेयता सिद्ध हुई थी। सच तो यह है, कि प्राचीनों द्वारा जहाँ विषयवस्तु, की प्रस्तुति पर विशेष बल दिया गया था, वहाँ गंगेश ने विशेष तर्क-पद्धति को जन्म दिया था। इसके अतिरिक्त जहाँ प्राचीन न्याय के अन्तर्गत पदार्थों के स्वरूप एवं स्वभाव का निरूपण किया गया था, वहाँ 'मणि' में वस्तुओं-पदार्थों की सुसम्बद्ध एवं सुदृढ़ परिभाषापद्धति अपनीयी गई थी। यों कहिए, कि न्याय की पदार्थ-शास्त्रीय (Categoristic) पद्धति का स्थान 'मणि' की प्रमाणशास्त्रीय (Epistemological) पद्धति ने ले लिया था।

गंगेश (१४०० ई०) मिथिला (दरभङ्ग के समीपस्थ ग्राम करिओं) में जन्मे थे। कहना होगा, कि मिथिला में इनकी तर्कपद्धति का इतना प्रभाव हुआ कि मैथिलसम्प्रदाय के रूप में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय की ही प्रतिष्ठा हो गई।

मैथिल सम्प्रदाय के अन्तर्गत तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेश के पुत्र बर्द्धमानोपाध्याय ने उदयन के समस्तग्रन्थों की टीका लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने न्यायसूत्र के पञ्चम अध्याय एवं लक्षणाचार्यविरचित लीलावती एवं खण्डनखण्ड-खाद्य पर भी टीका का प्रणयन किया था। किन्तु बर्द्धमान ने अपने पिता की तत्त्वचिन्तामणि की टीका नहीं की। उल्लेखनीय है कि वटेश्वर, जीवनाथ मिश्र, गंगादित्य, घटेशोपाध्याय एवं यज्ञपति प्रभृति ने 'मणि' पर टीका का प्रणयन किया था। ये सब टीकाकार प्राय: गंगेश एवं वर्द्धमान के समसामयिक ही थे। मिथिला सम्प्रदाय में जयदेव मिश्र (पक्षधर मिश्र १४२०-१५००) की 'मणि' पर आधारित आलोक टीका ने पूर्ववर्त्ती उपर्युक्त आचार्यों को एक प्रकार से भुला ही दिया। जयदेव ने अपने चाचा हरिमिश्र से न्याय विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी। यह भी कहा जाता है, कि यज्ञपति भी इनके गुरु थे, यद्यपि यज्ञपति का इन्होंने 'आलोक' में अनेक स्थानों पर खंडन भी किया है। यह ध्यान रहे, कि ये जयदेव मिश्र, गीतगोविन्द एवं प्रसन्नराघव नाटक के प्रणेता जयदेव से भिन्न थे। इनके बारे में प्रसिद्ध था—"पक्षधरप्रतिपक्षो न लक्ष्यते लोकेऽस्मिन्।" जयदेव ने ही उडिपी मठ के प्रधान माध्व पुजारी व्यासराय को न्यायविद्या के अध्ययन-लेखन के लिए प्रेरित

किया था। व्यासराय विजयनगर के कृष्णदेव राय के शिष्य थे, तथा इन्होंने तर्कताण्डव नामक न्यायग्रन्थ का प्रणयन किया था। जयदेव के अनेक शिष्य थे, जिन में, उनके गुरुपुत्र-नरहरि, उनके पुत्र माधव, भानजे वासुदेव, रूचिदत्त, सूचीकर, भगीरथ ठक्कुर के नाम विशेषरूप से उल्लेख करने योग्य हैं। इन सब तथा उस समय के प्रतिष्ठित विद्वानों जैसे, शंकर मिश्र एवं वाचस्पति मिश्र प्रभृति ने इनमें 'मणि' पर टीका लिखी थी। इनमें रुचिदत्त प्रणीत 'मणि' की टीका दक्षिण में अधिक प्रचलित हुई थी।

इस प्रकार यह कहना होगा कि जहाँ १४०० ई० में गंगेश एवं उनके सुपुत्र बर्द्धमान का प्राधान्य था, वहाँ १५०० ई० में आकर 'मणि' के टीकाकारों के समर्थकों एवं विरोधियों में संघर्ष उत्पन्न हो गया था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह संघर्ष जयदेव मिश्र (पक्षधर मिश्र) की 'आलोक' टीका के प्रणयन के पश्चात् समाप्त हो गया था, यद्यपि आलोक सम्पूर्ण 'मणि' पर न होकर केवल तीन अध्यायों पर ही आधारित थी।

'मणि' (तत्त्वचिन्तामणि) का सर्वशिरोमणि होना इसी से प्रतीत होता है कि जितनी टीकाएँ 'मणि' पर प्रणीत हुईं, उतनी जातुचित् किसी भी अन्य शास्त्र के ग्रन्थ पर नहीं हुईं। जैसा, सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने कहा है, तीन सौ पृष्ठ के इस ग्रन्थ, तत्त्वचिन्तामणि की टीकाओं की पृष्ठ संख्या १० लाख से भी अधिक है।

मैथिल पक्षधर मिश्र के शिष्य वासुदेव सार्वभौम ने १६०० ई० के प्रारम्भ में नवद्वीप आकर तत्त्वचिन्तामणि के पठन-पाठन को प्रचलित किया। तत्पश्चात् रघुनाथ शिरोमणि ने समस्त वङ्ग प्रदेश में 'मणि' के अध्ययन का प्रचार-प्रसार किया, और इस प्रकार बंगाल भी मिथिला के समान नव्यन्याय के अध्ययन का विशेष केन्द्र बन गया। फिर तो, महाराष्ट्र, मद्रास, उत्तर प्रदेश एवं कश्मीर आदि प्रदेशों में भी नव्य न्याय का प्रचार-प्रसार हो गया।

वासुदेव सार्वभौम ने नदिया में नव्यन्याय की स्थापना की थी, इसी लिए इस शाखा का नाम नदियाशाखा के रूप में प्रख्यात हो गया। नदिया में वासुदेव सार्वभौमं के पिता महेश्वरयज्ञ संभवतः, पहिले बंगाली विद्वान् थे, जिन्होंने 'मणि'

पर टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख वासुदेव ने अपने ग्रन्थ-चिन्तामणि प्रन्काश के अन्तर्गत किया है । वासुदेव सार्वभौम के चार प्रधान शिष्य थे—नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि, तान्त्रिक कृष्णानन्द, विधिशास्त्रविशेषज्ञ रघुनन्दन एवं वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं आन्दोलनकर्ता चैतन्य महाप्रभु । यद्यपि नदिया में नव्यन्याय की शाखा के प्रस्थापक वासुदेव ही माने जाते हैं, किन्तु शिरोमणि ने नदिया में नव्यन्याय के अध्ययन की व्यवस्थाहेतु विद्यापीठ, या विश्वविद्यालय की स्थापना की थी । इस सम्बन्ध में अय्यर ने तर्कभाषा की भूमिका में लिखा है—"Though वासुदेव is famous as the founder of the Nadia school of नव्य न्याय it was his pupil who raised it to University status. He initiated a special Chair of Logic at Nadia and was its first occupant" (S.R. Iyer, Introduction to Tarkabhāṣā. P.38 Varanasi) नदिया में, पीठ (Chair) के आचार्य पद के लिए 'मणि' पर मौलिक टीका लिखना आवश्यक था । इसके पश्चात् शिरोमणि की दीधिति पर टीका लिखना, पीठाचार्य पद के लिए अनिवार्य कर दिया गया था । इतना ही नहीं, विद्वानों की सभा में, इस टीका का विशिष्टतया उत्कृष्ट सिद्ध होना भी अपेक्षित था । स्वयं शिरोमणि ने 'मणि' के अनुमान भाग पर दीधिति तथा उदयन के आत्मतत्त्वविवेक, वर्द्धमान की किरणावलीप्रकाश एवं लीलावतीप्रकाश पर टीका लिखी थी । इसके अतिरिक्त इन्होंने पदार्थखंडन एवं आख्यातवाद जैसे स्वतन्त्र गुटकों (लघु ग्रन्थों) का प्रणयन भी किया था । नदिया में कृष्णदास सार्वभौम, जानकीनाथ, रामभद्र-सार्वभौम, भवानन्द, मथुरानाथ, गुणानन्द, जगदीश एवं गदाधर जैसे नव्यन्याय के विलक्षण विद्वान् हुए ।

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उधर वाराणसी में भी प्रगल्भ मिश्र, रुद्रन्याय वाचस्पति, पद्मनाभमिश्र, रघुदेव, जयरामपञ्चानन ने भी तत्त्वचिन्तामणि, आलोक एवं दीधिति पर टीकाऐं लिखी थीं, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन टीकाओं के द्वारा किसी प्रकार भी जयदेव की आलोक का स्थान नहीं लिया जा सका । अत एव आज भी आलोक 'मणि' की सर्वोच्च टीका समझी

जाती है । आलोक का महत्त्व इससे भी आँका जाता रहेगा कि जगदीश तर्कालङ्कार एवं गदाधर ने भी आलोक पर टीका लिखी थी ।

यह कहना होगा, कि नव्यन्याय के विस्तार के इतिहास का अन्त नदिया में गदाधर (१६०३-१७०९ ई०) के साथ ही हो गया था । गदाधर के पश्चात् कदाचित् ही किसी विद्वान् ने 'मणि' अथवा दीधिति पर टीका लेखन का छोटा मोटा प्रयास किया हो । गदाधर के पश्चात् तो कुछ क्रोडपत्र (नव्यन्याय विषयक गुटके) ही लिखे गए थे, जिनमें से कुछ ही प्रकाशित हो सके ।

आज तो, उत्तरभारत में मथुरानाथ दीक्षित एवं जगदीश तर्कालङ्कार तथा दक्षिण भारत में गदाधर सम्यक् सुप्रतिष्ठित हैं । इधर काशी में पंडित बालकृष्ण शर्मा एवं उनके शिष्य पंडित बदरीनाथ शुक्ल भी सम्मानित नव्य-नैय्यायिक हुए हैं ।

अन्त में, मैं, शास्त्र-प्रशासनदक्ष डा० कमलाकान्त मिश्र, निदेशक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के प्रति कृतज्ञ हूँ, कि उनके द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन 'स्वातन्त्र्य-स्वर्ण-जयन्ती' योजना के अन्तर्गत सम्पन्न हो रहा है ।

राममूर्तिशर्मा

"मणिद्वीप"
दिल्ली

विषयानुक्रम

भूमिका

न्यायदर्शन १-७०

न्याय दर्शन की मूल चिन्तनदृष्टि

न्यायदर्शन का उदय एवं विकास

न्याय शब्द का अर्थ,

न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा,

उपनिषदों में न्याय का स्वरूप

प्राचीन एवं नव्य न्याय,

प्राचीन और नव्य न्याय में अन्तर,

न्यायदर्शन के आचार्य एवं साहित्य,

गोतम या गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, भासर्वज्ञ, उदयनाचार्य, नव्य न्याय के आचार्य एवं साहित्य, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ भट्टाचार्य, जगदीश भट्टाचार्य, गदाधर भट्टाचार्य ।

न्याय-वैशेषिक का मिश्रित योगदान

न्याय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त - षोडश पदार्थ, प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण, संनिकर्ष के छः प्रमाण, संयोग संनिकर्ष, संयुक्त समवाय संनिकर्ष, संयुक्त समवेत समवायं, समवाय संनिकर्ष,

समवेत समवाय संनिकर्ष, विशेषण-विशेष्यभावसंनिकर्ष, मानस प्रत्यक्ष, अलौकिक संनिकर्ष, सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति एवं योगज प्रत्यक्ष। अनुमान प्रमाण, अनुमान की प्रक्रिया, लिङ्गलिङ्गी, पक्ष, सपक्ष, व्याप्ति, व्याप्तिपञ्चक, उपाधिनिरास, अनुमान के भेद, प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन, समीक्षा, पाश्चात्यपद्धति।

पञ्चावयव वाक्य के सम्बन्ध में सतीशचन्द्र विद्याभूषण का मत, आगमन तथा निगमन पद्धति, पूर्ववत् अनुमान, शेषवत् अनुमान, सामन्यतोदृष्ट, केवलान्वयीअनुमान, केवलव्यतिरेकी-अनुमान, अन्वयव्यतिरेकी अनुमान, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव दोष, हेत्वाभास, उपमान प्रमाण।

शब्दप्रमाण—अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव तथा ऐतिह्य, प्रामाण्यवाद, परतःप्रामाण्यवाद, कार्यकारणवाद, सत्कार्यवाद। न्यायदर्शन में मोक्ष। निष्कर्षसूत्र।

वैशेषिक दर्शन ७१-१०७

मूलदृष्टि, वैशेषिक नाम क्यों पड़ा, न्याय एवं वैशेषिक, वैशेषिक न्याय से पूर्ववर्त्ती है। वैशेषिक सूत्रों का रचना काल, वैशेषिक दर्शन के आचार्य एवं साहित्य, वैशेषिक सूत्र का संक्षिप्त वर्ण्यविषय। प्रशस्तपाद, व्योमशेखराचार्य, श्रीधराचार्य, उदयनाचार्य, वल्लभाचार्य, चन्द्रानन्द, मिथिला-वृत्ति, शङ्कर मिश्र, जगदीश भट्टाचार्य, पद्मनाभ मिश्र, जगदीश तर्कालङ्कार, आत्रेय, विश्वनाथ पञ्चानन, अनं- भट्ट, वैशेषिक की पदार्थमीमांसा, पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, व्यापार, प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, मनोगति, मन, गुण (२४) सामान्य, अपोहवाद, विशेष, समवाय, अभाव, सृष्टि-संहार-प्रक्रिया एवं परमाणुकारणवाद, विद्या एवं

अविद्या, स्वप्नज्ञान, मोक्ष का स्वरूप, समीक्षा एवं निष्कर्ष सूत्र, नैयायिक के पिठरपाक का निराकरण ।

सहायकग्रन्थसूची १०९

अनुक्रमणिका ११३

परिशिष्ट १ १२३

न्यायशास्त्रीयपरिभाषा:

परिशिष्ट २ १४७

पारिभाषिकशब्दलक्षण

परिशिष्ट ३ १५२

न्यायवैशेषिकसूत्रसूची

पारिभाषिक शब्द (अंग्रेजी)

The Sixteen categories (षोडश पदार्थ)

Release(अपवर्ग)

Means of knowledge (प्रमाण)

Perception (प्रत्यक्ष)

Inference (अनुमान)

Comparison (उपमान)

Word or verbal testimony (शब्द)

Object of knowledge(प्रमेय)

Sense (इन्द्रिय)

Element(भूत)

Qualities (गुण)

Intellect (बुद्धि)

Mind (मन:)

Activity (प्रवृत्ति)

Fault (दोष)

Transmigration (प्रेत्यभाव)

Fruit (फल)

Pain (दु:ख)

Release (अपवर्ग)

Doubt (संशय)

Purpose (प्रयोजन)

Example or familiar instance (दृष्टान्त)

Tenet (सिद्धान्त)

A dogma of all the Schools (सर्व्वतन्त्रसिद्धान्त)

A dogma peculiar to some School (प्रतितन्त्रसिद्धान्त)

A hypothetical dogma (अधिकरणसिद्धान्त)

An implied dogma (अभ्युपगमसिद्धान्त)

Members of a syllogism (अवयव)

Proposition (प्रतिज्ञा)

Reason (हेतु)

Homogeneous or affirmative reason (साधर्म्यहेतु)

Heterogeneous or negative reason (वैधर्म्यहेतु)

Example (उदाहरण)

Homogeneous or affirmative example (साधर्म्योदाहरण)

Heterogeneous or negative example (वैधर्म्योदाहरण)

Application, affirmative and negative (उपनय)

Conclusion (निगमन)

Confutation (तर्क)

Ascertainment (निर्णय)

Discussion (वाद)

Wrangling (जल्प)

Cavil (वितण्डा)

Fallacies of reason (हेत्वाभास)

The erratic (सव्यभिचार)

The contradictory (विरुद्ध)

The controversial or equal to the question (प्रकरण-सम)

The reciprocal or unproved (साध्यसम)

The mistimed (कालातीत)

Quibble (छल)

Quibble in respect of a term (वाक्छल)

Quibble in respect of a genus (सामान्यछल)

Quibble in respect of a metaphor (उपचारछल)

An occasoion for rebuke (निग्रहस्थान)

Doubt (संशय)

The means and objects of knowledge (प्रमाण-प्रमेय)

Perception (प्रत्यक्ष)

Special kinds of knowledge (ज्ञानविशेष)

The relation of perception and inference (प्रत्यक्षमनु-मानम्)

The whole (अवयविन्) and its parts (अवयव)

Inference (अनुमान)

Comparison (उपमान)

Word or verbal testimony (शब्द)

Injunction (विधि)

Persuasion (अर्थवाद)

Praise (स्तुति)

Blame (निन्दा)

Warning (परकृति)

Prescription (पुराकल्प)

Reinculcation (अनुवाद)

Tautology (पुनरुक्त)

The Medical Science (आयुर्वेद)

Means of knowledge (प्रमाण)

Presumption(अर्थापत्ति)

Probability (सम्भव)

Non-existence (अभाव)

The nature of sound (शब्द)

Otherness (अन्यत्व)

Letters, their modification and substitutes (वर्णविकार)

Word (पद)

Individual (व्यक्ति)

Form (आकृति)

Genus (जाति)

Remembrance (स्मृति)

Mind (मनः)

The eye-ball (कृष्णसार)

Touch (त्वक्)

Intellect or knowledge (बुद्धि)

Recollection (स्मृति)

Desire and aversion (इच्छाद्वेष)

Memory (स्मरण)

Non-simultaneousness of knowledge (ज्ञानायौगपद्य)

Desert (पूर्व्वकृतफल)

Activity (प्रवृत्ति)

Faults (दोष)

Stupidity (मोह)

Transmigration (प्रेत्यभाव)

God (ईश्वरः)

Production from no-cause (अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः)

All are not non-eternal (न सर्व्वमनित्यम्)

All are not eternal (न सर्व्वं नित्यम्)

All are not distinct (न सर्व्वं पृथक्)

Self-existence (स्वभावसिद्धि)

Relative non-existence (इतरेतराभाव)

No fixity of number (संख्यैकान्तासिद्धि)

Debts and troubles (ऋण-क्लेश)

The rise of true knowledge (तत्त्वज्ञानोत्पत्ति)

The whole and its parts (अवयवावयविन्)

Atom (अणु)

The non-reality of things (भावानां याथात्म्यानुपलब्धि)

False apprehension (मिथ्योपलब्धि)

Meditation (समाधिः)

Discussion, wrangling and cavil(वादजल्पवितण्डाः)

Balancing the effect (कार्य्यसमा)

Admission of an opinion (मतानुज्ञा)

Six-winged disputation (षट्पक्षी कथा)

Occasions for rebuke (निग्रहस्थान)

Hurting the proposition (प्रतिज्ञाहानि)

Shifting the proposition (प्रतिज्ञान्तर)

Opposing the proposition (प्रतिज्ञाविरोध)

Renouncing the proposition (प्रतिज्ञासंन्यास)

Shifting the reason (हेत्वन्तरम्)

Shifting the topic (अर्थान्तरम्)

The meaningless (निरर्थक)

The unintelligible (अविज्ञातार्थ)

The incoherent (अपार्थक)

The inopportune (अप्राप्तकाल)

Repetition (पुनरुक्तम्)

Silence (अननुभाषण)

Ignorance (अज्ञान)

Non-ingenuity (अप्रतिभा)

Evasion (विक्षेप)

Admission of an opinion (मतानुज्ञा)

Overlooking the censurable (पर्य्यनुयोज्योपेक्षण)

Censuring the non-censurable (निरनुयोज्यानुयोग)

Deviating from a tenet (अपसिद्धान्त)

Fallacies of a reason (हेत्वाभास)

न्यायदर्शन

मूलचिन्तन-दृष्टि

भारतीयदर्शन की मूल वैदिक दृष्टि दार्शनिक चिन्तनधारा के विविध आयामों के साथ किसी न किसी प्रकार से आबद्ध है। यह तथ्य आस्तिक दर्शन ही नहीं, प्रत्युत अवैदिक एवं अनीश्वरवादी कहे जाने वाले नास्तिक दर्शनों के सम्बन्ध में भी न्यूनाधिक रूप से चरितार्थ होता है। जहां तक न्याय दर्शन का प्रश्न है, आस्तिक षड्दर्शन के अन्तर्गत होने के कारण, इसके उदय एवं विकास का स्वरूप वैदिक वाङ्मय एवं परवर्त्ती साहित्य में सरलता से परिशीलनीय है। यहां, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दार्शनिक चिन्तन का उद्देश्य सत्य के स्वरूप एवं उसकी उपलब्धि के साधनों का अन्वेषण तथा निरूपण है। अतएव यह भी कहना होगा कि प्राचीनतम वाङ्मय, ऋग्वेद संहिता के अन्तर्गत जिस 'सत्' तत्त्व का निरूपण विविध प्रकार से किया गया है, उसी का ऊहापोह एवं विश्लेषण तथा प्रतिपादन परवर्त्ती वैदिक वाङ्मय—विशेषतः उपनिषदों तथा नास्तिक एवं आस्तिक सम्प्रदायों में कहीं यत्किंचित् तो कहीं प्रचुरता से निष्पन्न हुआ है। निदर्शनार्थ जिस प्रकार, कमलनाल के खण्डित हो जाने पर भी तदन्तर्वर्त्ती सूत्र में विभाग न होकर, उसकी सततता बनी रहती है, उसी प्रकार वैदिक वाङ्मय का 'सत्' तत्त्वसूत्र, दार्शनिक सम्प्रदायों में विभाग होने पर भी, सतत रूप से आज तक वर्त्तमान है। इसका प्रधान कारण मुमुक्षा है। जैन एवं बौद्ध, जो आत्मवाद के विरोधी हैं, उनमें भी मोक्ष (निर्वाण) की कामना देखने को मिलती है। इस प्रकार मोक्ष अथवा निर्वाण को स्वीकार करना भी एक प्रकार से अस्तित्वमूलक है। जहां तक आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के भेद दर्शन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यह भेद विभाजन, क्रिया एवं प्रतिक्रिया का फल है। परिणामतः, उपनिषदों में

यदि वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा का प्राचुर्य है, तो दूसरी ओर यह विचारधारा संहितावर्त्ती दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि का पुष्टीकरण एवं दृढ़ीकरण भी कही जा सकती है । यही प्रक्रिया उपनिषत्परवर्ती नास्तिक एवं आस्तिक सम्प्रदायों के उदय एवं विकास में भी देखने को मिलती है । उदाहरणार्थ, भौतिकतावादी चार्वाक दर्शन, उपनिषदों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन की विचारधारा की ही प्रतिक्रिया का परिणाम है, जिसमें आध्यात्मिक दर्शन का स्थान भौतिक दर्शन ने ले लिया था । इसी प्रकार चार्वाकीय भौतिक दर्शन की प्रतिक्रिया के परिणाम जैन एवं बौद्ध दर्शन कहे जा सकते हैं, जिनमें एक ओर भौतिक जीवन की हेयता तथा दूसरी ओर आचारपक्ष की प्रबलता पर विशेष बल दिया गया है । यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि जैन एवं बौद्ध दर्शन के अनात्मवादी होने पर भी, उनमें वैदिक सद्वाद का तन्तु, क्रमशः जीवचैतन्यवाद एवं स्याद्वाद तथा बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत 'तथता' के सिद्धान्त में दृष्टिगोचर होता है । न्यायविषयक दृष्टि के उदय के सम्बन्ध में, यह कहा जाएगा कि इसकी अपेक्षा का प्रमुख कारण यह था कि वैदिक वाङ्मय एवं विशेष कर उपनिषदों में जिस तात्त्विक दृष्टि का चिन्तन हुआ था, और जो तात्विक दृष्टि नास्तिक जैन एवं बौद्ध दर्शन में भी प्रकारान्तर से अभिव्यक्त हुई थी, उसकी परीक्षा एवं निष्पत्ति के लिये एक सम्पूर्ण प्रमाण दर्शन की आवश्यकता थी । "प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः" । साथ ही, यह भी कहना संगत होगा कि यह प्रमाणदर्शन न्यायदर्शन, तत्पूर्ववर्ती तत्वदर्शन की परीक्षा एवं प्रतिपत्ति के लिये ही निकष सिद्ध नहीं हुआ, अपितु परवर्त्ती आचार्यों एवं सम्प्रदायों द्वारा प्रस्तुत प्रमेयसिद्धि के लिये भी इसकी अनिवार्य उपादेयता बनी रही, तथा आगे भी बनी रहेगी । यह बात और है कि न्यायेतर, प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमाणादि की चिन्तना न्यूनाधिक भेद के साथ की गई, जैसा कि आस्तिक दर्शनों में स्पष्ट है । वैसे तो, तत्त्वदर्शन की पुष्टि के लिए, प्रमाणचिन्तन एवं न्याय की अपेक्षा नास्तिक दर्शनों, चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन में भी न्यूनाधिक रूप से अनुभव की गई थी । अतएव जैन न्याय एवं बौद्धन्याय का यत् किञ्चित् विकास हुआ था, इस सम्बन्ध में धर्मकीर्त्ति एवं दिङ्नाग की देन

को नकारना समुचित न होगा । किन्तु सम्पूर्ण दृष्टि से न्यायदर्शन का सम्यक् विकास गोतम के न्यासूत्र के आधार पर ही हुआ था, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा । परञ्च यह विस्मरणीय नहीं होना चाहिए कि न्याय दर्शन की मूल उदयस्थल, अन्य आस्तिक दर्शनों के समान, उपनिषदें ही है । यह तथ्य भी आगामी विवेचन में विचारणीय है । यों तो वैदिक संहिताओं में भी न्याय दर्शन के मूल सूत्र किसी न किसी रूप में मिलते ही हैं ।

यहां न्याय दर्शन के उदय एवं विकास के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा ।

न्याय दर्शन का उदय एवं विकास

न्याय शब्द का अर्थ

न्याय शब्द के गवेषणा पूर्ण अध्ययन के लिये न्याय शब्द का अर्थ भी विचारणीय है । न्याय का आदिम रूप हमें उन वैदिक एवं औपनिषद शास्त्रार्थो तथा विद्वानों के वाद-विवादों में मिलता है, जिनमें विद्वज्जन एक दूसरे को परास्त करना ही, अपने वैदुष्य का चरम लक्ष्य समझते थे । मेरा विचार है कि इस प्रकार के शास्त्रार्थों एवं वाद-विवादों में विद्वानों की रुचि इतनी बढ़ गई कि उन्होंने शास्त्रार्थ प्रणाली को स्वतन्त्र अध्ययन का विषय बना लिया । यही शास्त्रार्थ जातुचित् वाकोवाक्य के नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे । आपस्तम्भ ने, जो बूलहर के मतानुसार ई. पू. तीसरी शताब्दी में वर्त्तमान थे, न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के अर्थ में किया है । इस तथ्य का उल्लेख बोडास (Bodas) ने अपने "Historical Survey of Indian logic" नामक लेख के अन्तर्गत किया है ।

प्राचीन काल में न्याय के लिये "आन्विक्षिकी" का प्रयोग प्रायः होता था । आन्वीक्षिकी का उल्लेख उपनिषदों[१], रामायण[२], महाभारत[३], मनुस्मृति, गौतम-धर्मसूत्र तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है । न्याय शब्द का एक अर्थ,

१. बृ.उ.१२-४-५ छा.उ.७-१-२

२. रामायण (अयो० का०) १००-३९

३. महाभारत (शा.प०) ७-४३

औचित्य निर्णय भी है । इसी आधार पर भाष्यकार वात्स्यायन एवं वाचस्पति मिश्र ने न्याय की परिभाषा "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय,"[१] (प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा करना न्याय है) की है । प्राचीनकाल में न्याय शास्त्र, हेतुशास्त्र, हेतुविद्या, तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, वादविद्या, न्यायविद्या, प्रमाणशास्त्र, तक्वी, विमंसी आदि अभिधानों से भी प्रख्यात हुआ है । यह कहना सङ्गत होगा कि न्याय के इस प्राचीन रूप में मात्र तर्कशास्त्र की ही योजना थी । दर्शन एवं अध्यात्मपक्ष प्राचीन न्याय का अंग नहीं था ।

वात्स्यायन ने न्याय दर्शन को समस्त विद्याओं का प्रदीप कहा है ।[२] अतएव इस दर्शन की अपेक्षा समस्तशास्त्रों के तत्त्वबोध के लिए अनुभव की गई है । यहां तक कि साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में न्यायदर्शन की तर्कपद्धति का अनुसरण किया है । मनु ने भी वेदशास्त्र सम्मत तर्क की उपादेयता, धर्म के सम्यक् स्वरूपज्ञान के लिये स्वीकार की है ।[३]

यदि विचार कर देखा जाय तो न्याय की तर्क दृष्टि का आरम्भ संहिताओं के अन्तर्गत ही हो जाता है । निदर्शन के लिये मीमांसकों ने श्रौतानुष्ठान के विरोध के परिहारार्थ प्रथम वार तर्कपद्धति का अनुसरण किया था । यही कारण था कि बहुत समय तक मीमांसा के अर्थ में न्याय शब्द का प्रचलन होता रहा । इसके पश्चात् ही न्याय का स्वतंत्र दर्शन के रूप में विकास हुआ ।

उपनिषदों में न्याय का स्वरूप

जैसा कि आस्तिक षड्दर्शनों के स्वरूप निरूपण के अवसर पर स्पष्ट होगा, सभी आस्तिक दर्शनों के मूल सूत्र उपनिषदों के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं । जहां

---

१. वात्स्यायन भाष्य, न्याय सू. १-१-१ तथा देखें,
वाचस्पतिमिश्रि, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १-१-१

२. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तितः ॥ वात्स्यायन, न्यायभाष्य १.१.१

३. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ मनुस्मृति १२.१०६

तक न्याय दर्शन का प्रश्न है,[१] आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिंध्यास्तितव्यः इस श्रुति के अन्तर्गत 'मन्तव्य' आत्मा की मननयोग्यता का स्पष्ट संकेत करता है, जो न्याय सम्मत तर्क का ही समर्थक है । आत्मा के सम्बन्ध में मनन करते समय अनेकविध तर्कनाओं का मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है । इसके अतिरिक्त न्याय दर्शन के अन्तर्गत शब्द को आकाश का गुण कहा है ।[२] एवञ्च छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आकाश शब्द का वाहन है, तथा आकाश के द्वारा मनुष्य किसी को बुलाता है । आकाश के द्वारा मनुष्य सुनता है तथा आकाश के ही द्वारा मनुष्य शब्द की प्रतिध्वनि भी सुनता है । न्याय दर्शन के अन्तर्गत जिस अणुवाद का विस्तृत रूप से विचार हुआ है, उसके स्पष्ट निर्देश भी उपनिषदों के अन्तर्गत वर्त्तमान है ।[३] उदाहरण के लिये, श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तर्गत आत्मा के स्वरूप को 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहा है ।[४] मुण्डक उपनिषद् में भी एक स्थल पर आत्मतत्त्व की सूक्ष्मता का निरूपण 'अणु' कह कर किया गया है ।[५] और देखें, मुण्डक उपनिषद् के अन्तर्गत कहा गया है कि आत्मा न बलहीन के द्वारा जानने के योग्य है, न प्रमाद से, न तप से और न लिङ्ग त्याग से ।[६] इस स्थल पर 'लिङ्ग' चिह्नवाची है, जो न्याय दर्शन की अनुमान प्रक्रिया के अन्तर्वती 'लिङ्ग'[७] (धूम) का सङ्केत देता है ।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत न्याय दर्शनाभिमत 'अनुमान' की बीजरूपता उस स्थल पर देखी जा सकती है, जब आरुणि श्वेतकेतु से कहते हैं कि जैसे एक सुवर्णपिण्ड के ज्ञान से समस्त सुवर्ण मद का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार

---

१. बृ.उ.२-४-५

२. शब्दगुणकमाकाशम्, तर्क संग्रह ।

३. आकाशेनाह्वयति, आकाशेन श्रृणोति, आकाशेन प्रतिश्रृणोति । छा.उ.७-१४-१

४. श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-२०

५. एषोऽणुरात्मा चेतसो वेदितव्यः । मु.उ.३-१-९

६. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाऽप्यलिङ्गात् । मु.उ.३.२.४

७. लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम् ।

एक आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर समस्त का ज्ञान हो जाता है,[१] क्योंकि आत्मतत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है, अर्थात् एक मात्र आत्मा ब्रह्म ही सत्य है । इस प्रकार प्रातीतिक नामरूपात्मक जगत् की सत्ता भी ब्रह्म (अधिष्ठान) से पृथक् नहीं है । जैसा कि अग्रिम विवेचन में स्पष्ट किया जाएगा, न्याय दर्शन असत्कार्यवादी है, जिसके अनुसार कार्य की सत्ता कारण में अवर्त्तमान है । इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् का वह स्थल उद्धरणीय है, जहां यह कहा गया है कि आरम्भ में 'असत्' ही था, तथा असत् से ही 'सत्' की उत्पत्ति हुई ।[२] 'असत्' के इस निरुपण में न्याय दर्शन के असत् कार्यवाद की मूल भूमिका का पृष्टाधार देखना अनुचित न होगा ।

उपर्युक्त संकेतस्थलों के आधार पर न्यायदर्शन के अनेक सिद्धान्तसूत्र उपनिषदों में प्राप्तव्य हैं ।

प्राचीन एवं नव्य न्याय

न्याय दर्शन का इतिहास लगभग दो सहस्त्र वर्ष प्राचीन है । न्याय की दो प्रसिद्ध धाराएं हैं । प्रथम धारा के उद्गम स्थल आचार्य गोतम के सूत्र हैं । तथा दूसरी धारा का उत्पत्ति ग्रन्थ, गंगेवा उपाध्याय (१२वीं शताब्दी) रचित तत्त्वचिन्तामणि है । पहली धारा प्राचीन न्याय की प्रवर्त्तक है तथा दूसरी धारा नव्यन्याय की । प्रथम धारा प्राचीन न्याय षोडश पदार्थों के निरूपण के कारण 'पदार्थ मीमांसात्मक' अर्थात् 'कैटेगोरिस्टिक' प्रणाली के रूप में प्रख्यात हुई तथा दूसरी नव्यन्याय प्रणाली के अन्तर्गत प्रमाणों की मीमांसा होने के कारण, उसे प्रमाण मीमांसात्मक अर्थात् 'एपिस्टोगोलोजिकल' कहा गया ।

प्राचीन और नव्यन्याय में अन्तर

प्राचीन तथा नव्य-न्याय की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर है । जहां प्राचीन न्याय अध्यात्म प्रधान है, वहां नव्य न्याय शुष्क तर्क प्रधान है । वैसे तो, प्राचीन न्याय में

---

१. यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात् ।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् । दा.उ.६-१-४-६

२. असदेवेदमग्र आसीत्.... तस्मादसतः सज्जायते । छा.उ.२-३-२

भी तर्क की न्यूनता नहीं है । इसमें 'वाद' से लेकर, निग्रह स्थान तक की प्रमेय योजना वृहत्तर्क की ही प्रमाण है । परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि बौद्धों के साथ हुए प्रतिवाद के फल स्वरूप नव्य-न्याय की तर्क प्रणाली अधिक मुखर एवं आकर्षक है । वस्तुतः तथ्य यह है कि प्राचीन न्याय का लक्ष्य मुक्ति था तथा नव्यन्याय का लक्ष्य एक प्रकार से शुष्क तर्क था ।

न्यायदर्शन के आचार्य एवं साहित्य

गोतम या गौतम

गोतम, इनका गोत्र नाम था । इनका व्यक्तिगत नाम अक्षपाद था । ये मिथिला के निवासी थे । डा. सतीशचन्द्र विद्याभूषण के मतानुसार गोतम एवं अक्षपाद दो आचार्य थे । आचार्य विश्वेश्वर ने भी दोनों को एक न मानकर गोतम को अध्यात्म प्रधान सूत्रों का रचयिता तथा अक्षपाद को प्रमाण विवेचन के साथ न्याय सूत्रों का संस्कर्ता माना है ।[१]

गोतम के न्यायसूत्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत है । इस आधार पर कि न्यायसूत्र के अन्तर्गत शून्यवाद का खंडन किया गया है, याकोबी न्यायसूत्र की रचना तीसरी शताब्दी मानते हैं । किन्तु हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार न्याय सूत्र का प्रणयन द्वितीय शतक में हुआ था । इन मतों से भिन्न, सतीश चन्द्र विद्याभूषण के अनुसार न्याय सूत्र की रचना विक्रमपूर्व षष्ठ शतक में हुई थी ।[२] आधुनिक काल के समालोचक विद्वानों का विचार है कि न्याय सूत्र के चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत शून्यवाद, बाह्यार्थ भंगवाद आदि मतों का खंडन किया गया है जो बौद्धमत की ओर संकेत करते हैं । किन्तु प्राचीन विद्वानों का मत है कि ये वाद बुद्ध से पूर्व आदि सर्ग से ही प्रवृत्त हैं । यह मत जयन्तभट्ट द्वारा प्रतिपादित है ।[३] इस

---

१. देखिये आचार्य विश्वेश्वर, तर्कभाषा की भूमिका ।

२. विशेष देखिए, म.म. गोपीनाथ कविराज, न्यायभाष्य, अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ. १-१८ कलकत्ता

३. आदिसर्गात् प्रभृति वेदवदिमाविद्याः प्रवृत्ताः । न्यायमंजरी

प्रकार उपर्युक्त मत बौद्धदर्शन के परवर्ती न होकर पूर्ववर्ती ही हैं । अत: न्यायसूत्र के रचयिता गोतम का स्थिति काल विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक मानना संगत होगा ।

न्याय दर्शन के प्रणयन की भूमिका के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाय तो यह मानना होगा कि तत्कालीन समाज ने बौद्धधर्म के आचार-विचार से प्रभावित होकर भावुकतावश उसे स्वीकार तो कर लिया था, किन्तु बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियों को बौद्ध धर्म की कठोर आचार प्रणाली के पालन में कठिनता का अनुभव हो रहा था । वस्तुत: वे असमञ्जस में थे । न उन से बौद्ध धर्म का त्याग बनता था और न उसका मनसाग्रहण । इस प्रकार तत्कालीन बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियां एक शुष्क एवं नीरस जीवन यापन कर रहे थे । ऐसे सामाजिक वातावरण में एक ऐसी तर्क पद्धति की अपेक्षा थी, जो बौद्धधर्म के खण्डन का माध्यम बन सके । गोतम ने न्याय सूत्र की रचना कर के यही कार्य सम्पन्न किया था । न्यायदर्शन के अन्तर्गत वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति तथा निग्रहस्थान का विस्तृत वर्णन यही सिद्ध करता है कि न्याय दर्शन का प्रणयन प्रतिपक्षियों के खण्डन के लिये ही किया गया था ।

परिणामत:, न्याय दर्शन के अन्तर्गत, प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव,तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह स्थान इन षोडश पदार्थों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है । शास्त्रार्थ व्यवहार में इनका प्रयोग एक दूसरे को परास्त करने के लिये तथा निर्णीत मत पर पहुंचने के लिए किया जाता है । न्याय सूत्र में पांच अध्याय हैं, तथा प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं । इसमें कुल मिलाकर ८४ प्रकरण, ५२८ सूत्र, १९६६ पद तथा ८३८५ अक्षर हैं । यह गणना वाचस्पति मिश्र के 'न्याय सूची निबन्ध' के आधार पर है । यहां यह निर्देश योग्य है कि बौद्धों ने न्यायदर्शन को अस्तव्यस्त करने का पूर्ण प्रयत्न किया था । उदाहरणार्थ, न्याय सूत्र में बहुत से स्वकल्पित सूत्रों के मिश्रण का प्रयत्न भी किया गया था । इसके अतिरिक्त बौद्धों ने न्याय सूत्र के बहुत से अंश को नष्ट करने का प्रयास भी किया था । अतएव अनेक बार आस्तिक विद्वानों ने न्याय सूत्र का उद्धार किया था । यहां यह उल्लेख करने योग्य है कि वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित 'न्यायसूचीनिबन्ध' सूत्रोद्धार का ही रूप था, जिसके अन्तर्गत

न्यायसूत्रों का पुनरुद्धार शुद्धपाठ के रूप में प्रस्तुत किया था । इस प्रकार न्याय दर्शन के क्षेत्र में गोतम और उनके न्यायसूत्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । न्यायसूत्र के प्रणयन से ही न्यायदर्शन की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ा जाता है ।

वात्स्यायन — न्यायसूत्र के प्रथम भाष्यकार वात्स्यायन हैं । वात्स्यायन का स्थितिकाल ई. पू. द्वितीय शताब्दी है । वात्स्यायन भाष्य के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अनेक वार्त्तिकों के उद्धरण तथा उनकी व्याख्या मिलती है । इससे यह सिद्ध होता है कि इस भाष्य से पूर्व भी न्यायसूत्र की व्याख्या किसी न किसी विद्वान् के द्वारा की गई थी ।

उद्योतकर—(६०० ई.) उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक लिखकर न्यायशास्त्र की अत्यन्त दुरूह ग्रन्थियों को सुलझाया था । वार्त्तिक लिखने का उद्देश्य दिङ्नाग प्रभृति बौद्धों के मत का खण्डन था । उद्योतकराचार्य ने इस सम्बन्ध में स्वयं कहा था कि "दिङ्नाग आदि बौद्ध कुतार्किकों के ज्ञान की निवृत्ति के लिए मैंने यह ग्रन्थ (वार्त्तिक) लिखा है ।"[१]

वाचस्पतिमिश्र—(९००ई.) उद्योतकराचार्य के वार्त्तिक प्रत्येक अध्येता के लिये सरल नहीं थे । अतएव उनका विशदीकरण करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका लिखी थी । यह टीका इतनी प्रशंसित हुई थी कि वाचस्पति मिश्र 'तात्पर्याचार्य' के नाम से प्रख्यात हुए थे । ये भारतीय दर्शन के दिग्गज विद्वान् थे । इन्होंने वैशेषिक को छोड़कर सभी आस्तिक दर्शनों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएं लिखी थीं । उद्योतकर के वार्त्तिक पर न्यायसम्मत तात्पर्यटीका के अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र की ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य पर 'भामती', सांख्यकारिका पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी योगदर्शन पर तत्त्ववैशारदी तथा मीमांसादर्शन के क्षेत्र में विधिविवेक की टीका न्यायकणिका एवं मीमांसा का मौलिक ग्रन्थ तत्त्वबिन्दु प्रख्यात है । न्यायदर्शन के क्षेत्र में इनका ग्रन्थ — 'न्याय सूची निबन्ध, अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है ।

---

१. कुतार्किक-ज्ञान निवृत्तिहेतुः, वात्स्यायन, भाष्यवार्त्तिक-मङ्गलाचरण

आज मिथिला में इनकी जन्मभूमि के समीप 'वाचस्पति नगर' रेलवे स्टेशन भी बन गया है ।

जयन्त भट्ट— (९००ई.) जयन्त भट्ट ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'न्यायमञ्जरी' के अन्तर्गत न्यायसूत्र के कतिपय सूत्रों की टीका की है । न्यायमञ्जरी जयन्त भट्ट का अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है । ११ वीं शती में वर्त्तमान जैन दार्शनिक देवसूरि ने अपने ग्रन्थ 'स्याद्वाद रत्नाकर' में जयन्त भट्ट के प्रति तिरस्कार भावना से लिखा है—

यदत्र शक्तिसंसिद्धौ मज्जत्युदयनद्विपः ।
जयन्त हन्त का तत्र गणना त्वयि कीटके ॥

इस पद्य में जयन्त भट्ट के स्थितिकाल ९०० ई. के उत्तरार्द्ध की ही पुष्टि होती है । न्यायमञ्जरी के अन्तर्गत चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त का खंडन जयन्त ने गम्भीर एवं वैदुष्यपूर्ण तर्कों के साथ प्रस्तुत किया है ।

भासर्वज्ञ— (९००ई.) रत्नकीर्त्ति (९५० ई.) नामक बौद्ध विद्वान् ने अपोहसिद्धि नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत भासर्वज्ञ के न्यायभूषण को उद्धृत किया है । इससे इनके स्थिति काल (९०० ई.) की पुष्टि होती है । इन्हें अपनी एक ही कृति, न्यायसार से पर्याप्त यश मिला था । मुक्ति के सम्बन्ध में इनकी धारणा थी कि मुक्ति आत्मा की निरतिशय उपलब्धि है ।

उदयनाचार्य— (९८४ ई.) उदयनाचार्य प्राचीन न्याय के प्रौढ़ एवं अत्यन्त प्रख्यात आचार्य है । इन्हें अपने ग्रन्थ 'न्याय कुसुमाञ्जलि' के आधार पर विशेष ख्याति प्राप्त हुई थी । न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने अनीश्वरवाद का खंडन करके ईश्वर के अस्तित्व का युक्तिपूर्ण मंडन किया था । उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जलि के अन्तर्गत अनुमान के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि करते हुए निम्नलिखित युक्तियां दी हैं—

१. जिस प्रकार घटरूप कार्य की उत्पत्ति से कर्ता का अनुमान लगाया जाता है, उसी प्रकार जगत् को जन्म देना वाला भी कोई सामान्य जन न होकर सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है । अत: जगत् का कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वर होना चाहिए ।

२. प्रलयकाल में समस्त परमाणु जो जड़ हैं, आकाशस्थ होते हैं, अत: प्रलय के अनन्तर सृष्टिकाल में, परमाणु संयोग के लिये चेतन की अपेक्षा होती है । यह चेतनतत्व ही ईश्वर है । उस चेतनतत्त्व ईश्वर की इच्छा के द्वारा परमाणुओं में एक क्रिया उत्पन्न होती है और पुन: उन परमाणुओं में 'आरम्भक संयोग' उत्पन्न होता है और फिर सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ होती है ।

३. जगत् का कोई आधार एवं उसका विनाशक होना आवश्यक है । यह कार्य ईश्वर के अतिरिक्त किसी के द्वारा संभव नहीं है । अत: ईश्वर को मानना आवश्यक है ।

४. प्रलय के पूर्वकाल में वर्तमान कला कौशल एवं क्रियाकलापों को सृष्टि के आरम्भ में प्रवर्तित करने के लिये ईश्वर की अपेक्षा है । अत: **ईश्वर की** सत्ता अपेक्षित है ।

५. वेद की प्रामाणिकता तभी सिद्ध हो सकती है, जबकि वेद के कर्त्ता (ईश्वरस्य नि:श्वसिता वेदा:) ईश्वर की प्रामाणिकता सिद्ध हो । अत: वेद के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को मानना अनिवार्य है ।

६. श्रुति में ईश्वर का प्रतिपादन है, अत: ईश्वर को स्वीकार करना चाहिए ।

७. दो परमाणुओं से, न्यायदर्शन की प्रक्रिया से द्वयणुक बनता है तथा तीन द्वयणुकों से अपेक्षानुसार त्र्यणुक बनता है । इस प्रकार प्रलय काल में तीन द्वयणुकों से त्र्यणुक की अपेक्षा ईश्वर के अतिरिक्त किसी

और में नहीं हो सकती ।[१] **अतः ईश्वर को स्वीकार करना अपेक्षित है।**

उदयनाचार्य के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ और हैं एक तात्पर्यशुद्धि और दूसरा आत्मतत्वविवेक। तात्पर्य टीकापरिशुद्धि वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्त्तिक की तात्पर्य टीका की टीका है। उदयनाचार्य के आत्मतत्त्व विवेक के अन्तर्गत अनात्मवादी बौद्धों के शून्यवाद प्रभृति मतों का प्रबल खण्डन किया गया है। इसी लिये इनका 'आत्मतत्वविवेक' 'बौद्धधिक्कार' के नाम से प्रसिद्ध है।

प्राचीन न्याय के उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त बर्द्धमान (१३०० ई.) ने उदयनाचार्य की कुसुमाञ्जलि पर न्यायनिबन्धप्रकाश नामक टीका लिखी थी, एवं तदनन्तर, पद्मनाभ ने न्यायनिबन्धप्रकाश पर 'बर्द्धमानेन्दु' नामक टीका का प्रणयन किया था। नैयायिक शंकर मिश्र ने पुनः इस पर 'न्यायतात्पर्यमंडन' का प्रणयन किया। विश्वनाथ (१७०० ई.) ने भी न्यायसूत्र पर एक 'वृत्ति' की रचना की थी।

नव्य न्याय के आचार्य एवं साहित्य

आचार्य गंगेश उपाध्याय—नव्य न्याय के ग्रन्थों में गंगेश उपाध्याय रचित ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' प्रमुख है। गंगेश ही नव्यन्याय के प्रमुख प्रतिष्ठापक हैं। इन्होंने प्राचीन न्याय प्रतिपादित 'पदार्थशास्त्र' के स्थान पर 'प्रमाण शास्त्र' का प्रतिष्ठापन एवं प्रतिपादन किया था। गंगेश ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के अन्तर्गत केवल, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान इन चार प्रमाणों का नवीन शैली में प्रतिपादन करके नव्यन्याय शैली की परम्परा का प्रवर्त्तन किया, जिसने पक्षधर मिश्र आदि नव्यन्याय के अनेक उद्भट विद्वानों को जन्म दिया। गंगेश की अव्यच्छेदावच्छेदक, अनुयोगी एवं प्रतियोगी की 'परिष्कार' शैली कुछ कठिन अवश्य है, किन्तु इसमें संक्षेप में तथा सुगठित रूप में शास्त्रीय विचारों के प्रकटीकरण की जो तकनीक है, उसने न्याय दर्शन के अनेक आचार्यों को अपनी

---

१. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ न्यायकुसुमाञ्जलि ५-१
तथा देखें, न्यायकुसुमाञ्जलि १-१।

ओर आकृष्ट किया है । इस शैली के अन्तर्गत शब्दावली एवं भाषा का कथन भी मोहक है । यही कारण है कि यह शैली वेदान्त व्याकरण एवं काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा भी ग्रन्थ लेखन में समादर के साथ अपनायी गयी है । श्री हर्ष प्रणीत 'खण्डन खण्ड खाद्य' इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है । वस्तुतः गंगेश द्वारा आविर्भूत न्याय शैली की एक अद्भुत विशेषता यह है कि इसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को अल्पातिअल्प अक्षरों में प्रस्तुत करने की क्षमता है । तत्त्वचिन्तामणि में प्रयुक्त इनकी न्याय शैली के आधार पर न्याय दर्शन के दो महान् पीठों की स्थापना हुई थी । एक की बंगाल (नदिया) में तथा दूसरे पीठ की मिथिला में । इनमें भी मिथिला में न्यायदर्शन का मूल लेखन एवं अनुशीलन प्रमुख था । उदाहरणार्थ, पक्षधर मिश्र (१३०० ई.) ने जो मिथिलानिवासी थे, गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि के प्रतिपाद्य के विशदीकरणार्थ, 'आलोक' नामक टीका लिखी थी, तथा इनके शिष्य रुचितत्व ने 'मकरन्द' नामक टीका लिखी थी। मकरन्द उदयन की न्यायकुसुमाञ्जलि पर बर्द्धमान की कुसुमाञ्जलि की टीका है । यद्यपि मिथिला में न्यायदर्शन के कतिपय मूल एवं टीका ग्रन्थों की रचना हुई थी, फिर भी मिथिला में लेखन की परम्परा कम ही थी । इस प्रकार मिथिला के विद्वान् विशेषतः अध्ययन अध्यापन एवं शास्त्रार्थ में ही रत रहते थे । मिथिला के विद्वानों को यह भी चिन्ता रहती थी कि उनका शास्त्र मिथिला से बाहर न जाए । अतः वासुदेव आर्य ने मिथिला में जाकर नव्यन्याय का अध्ययन किया और फिर इसका प्रचार बंगाल (नदिया) में प्रचुर रूप से किया गया । वासुदेव सार्वभौम ने मात्र तत्त्वचिन्तामणि, पर अपनी टीका लिखी थी । किन्तु इनके शिष्यों के अद्भुत वैदुष्य के कारण इन्हें आशातीत प्रतिष्ठा मिली थी । इनके शिष्यों में रघुनाथ शिरोमणि रघुनन्दन एवं कृष्णानन्द प्रमुख थे । श्रीकृष्ण चैतन्यमहाप्रभु को भी वासुदेव सर्वभौम का ही शिष्य कहा जाता है ।

रघुनाथशिरोमणि— (१५०० ई.) रघुनाथ शिरोमणि का मूल नामधेय रघुनाथ ही था, किन्तु बंगला में इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य के आधार पर इन्हें शिरोमणि उपाधि प्रदान की गई थी । तभी से ये 'रघुनाथ शिरोमणि' के नाम से प्रख्यात हुए ।

इन्होंने पक्षधर मिश्र प्रणीत तत्त्वचिन्तामणि की आलोक टीका पर 'दीधिति' नाम्नी टीका लिखी थी जिसका विद्वत्समाज में विशेष समादर हुआ था ।

मथुरानाथ भट्टाचार्य—(१५८० ई.) मथुरानाथ भट्टाचार्य रघुनाथ शिरोमणि के शिष्य थे । इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि तथा दीक्षित पर टीकाएं लिखी हैं ।

जगदीश भट्टाचार्य—(१५९० ई.) जगदीश भट्टाचार्य अपनी 'जागदीशी' टीका के प्रणयन के लिए प्रसिद्ध हैं । 'जगदीशी' 'दीधिति' की टीका है । जगदीश भट्टाचार्य का एक ग्रन्थ 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' भी है ।

गदाधर भट्टाचार्य(१५९०ई.) इनकी प्रमुख रचना गदाधरी है । जो दीधिति की टीका है । गदाधर भट्टाचार्य ने उदयन प्रणीत आत्मतत्त्वविवेक पर तथा गंगेश रचित तत्त्वचिन्तामणि पर भी गदाधरी व्याख्या लिखी है । इनके द्वारा प्रणीत मौलिक ग्रन्थों में व्युत्पत्तिवाद एवं 'शक्तिवाद' विशेष रूप से समादृत हुए है ।

न्यायवैशेषिक का मिश्रित योगदान

उपर्युक्त आचार्यों के ही काल में न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तों की मिलीजुली प्रस्तुति आरम्भ हो गयी थी । उदाहरणार्थ, वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों में मिलता है जैसे, विश्वानाथ पञ्चानन (१७०० ई.) द्वारा प्रणीत भाषापरिच्छेद या कारिकावली तथा उसकी टीका 'न्याय सिद्धान्त मुक्तावली' के न्याय दर्शन का ग्रन्थ होने पर भी उसकी प्रणाली वैशेषिक पद्धति पर आधारित है । इसी प्रकार अन्नंभट्ट द्वारा प्रणीत तर्क संग्रह के न्याय दर्शन के अन्तर्गत परिगणित होने पर भी इस लघु ग्रन्थ में वैशेषिक पद्धति से ही पदार्थ आदि का प्रतिपादन किया गया है । इसी प्रकार केशवमिश्र (१२००ई.) रचित 'तर्कभाषा' के अन्तर्गत भी न्याय वैशेषिक की मिली जुली सामग्री ही उपलब्ध होती है । इस मिश्रित प्रणाली में न्याय ग्रन्थों का लेखन बहुत समय तक चलता रहा । उदाहरणार्थ माधव द्वारा 'न्याय सिद्धान्त' मञ्जरी तथा शशधर द्वारा 'न्याय सिद्धान्त द्वीप' का प्रणयन किया गया था । इसी समय अनेक टीका ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ । जिनमें तर्कभाषा पर 'न्याय प्रदीप' वरदराज रचित तार्किक रक्षा पर मल्लिनाथ की 'निष्कण्टक', जानकीनाथ भट्टाचार्य की

'न्यायसिद्धान्तमञ्जरी' पर यादवाचार्य की 'न्यायमञ्जरी सार' तथा शशिधर की 'न्यायप्रदीप' पर शेषानन्ताचार्य की 'प्रभा' नाम्नी व्याख्या प्रख्यात है।

न्याय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

षोडश पदार्थ न्याय दर्शन के अन्तर्गत षोडश पदार्थों के बोध से मोक्ष लाभ की बात कही गई है। ये षोडश पदार्थ, प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णयवाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह स्थान है। इस स्थल पर इन पदार्थों के स्वरूप का निरूपण आवश्यक है।

प्रमाण— न्यायदर्शन के अन्तर्गत 'प्रमाण' की परिभाषा निम्न रूप में गई गई है—"प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थभिधानो हि प्रमाणशब्दस्तद्विशेषसमाख्याया अपि तथैव व्याख्यातम्।[१]

वात्स्यायन के उपर्युक्त कथन के अनुरूप जिसके द्वारा प्रमिति की जाये, वह 'प्रमाण' है।. इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्रमाण शब्द 'कारण' का वाचक है। इस प्रकार तत्तत् प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द की व्याख्या भी 'करण' मूलक व्युत्पत्ति के आधार पर ही करनी चाहिए। इस प्रकार वात्स्यायन के मतानुसार जिसके द्वारा व्यक्ति ईप्सित अर्थ को जानता है, वह 'प्रमाण' है।[२] 'प्रमेय' वह ईप्सित अर्थ है जो जाना जाता है तथा 'प्रमिति' ईप्सित अर्थ का यथार्थ ज्ञान है। उदयनाचार्य ने भी उक्तमत की ही पुष्टि करते हुए, "यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्" कहा है।

भिन्न भिन्न दर्शनों में प्रमाणों की संख्या में मतभेद है। उदाहरणार्थ चार्वाक् ने एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार किया है तथा वैशेषिकों तथा बौद्धों ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण को भी स्वीकार किया है। किन्तु सांख्यदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अतिरिक्त शब्द प्रमाण को भी स्वीकार किया गया है। मीमांसक प्रभाकर ने उक्त प्रमाणों के साथ साथ, उपमान एवं अर्थापति

---

१. न्यायसूत्र भाष्य, १-१-३

२. स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्, वात्स्यायनभाष्य १.१.२

को भी स्वीकार किया है । मीमांसक कुमारिल भट्ट तथा वैदान्तियों ने पांच प्रमाणों के अतिरिक्त 'अभाव' को भी प्रमाण स्वीकार किया है । पौराणिकों ने उक्त छः प्रमाणों के अतिरिक्त संभव तथा ऐतिह्य को भी माना है । जहां तक न्यायदर्शन की बात है, इसके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं । बारह प्रमेयों, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मनस्, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख तथा अपवर्ग तथा उक्त चार प्रमाणों के ज्ञान के द्वारा पदार्थों का तत्त्वज्ञान करने के पश्चात्, साधक को संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान, का ज्ञान भी परमतत्त्व के ज्ञान के लिये परमावश्यक है ।[१]

अब यहां न्यायदर्शन के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों का निरूपण-विवेचन किया जाएगा ।

प्रत्यक्ष प्रमाण— न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में प्रत्यक्ष की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं । न्याय सूत्रकार गोतम ने प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहा है कि ईन्द्रिय और पदार्थ के संनिकर्ष (संयोग) से जो अव्यपदेश (अकथनीय) अव्यभिचारी (संशय एवं विपर्यय आदि दोनों से रहित), व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है ।[२] गंगेश के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण 'साक्षात् कारित्व' है । (प्रत्यक्षस्यसाक्षात्कारित्वं लक्षणम्, तत्त्वचिन्तामणि) है । इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय तथा किसी वस्तु के संनिकर्ष से जो साक्षात् यथार्थानुभव होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, तथा इस ज्ञान में सर्वाधिक सहायक प्रत्यक्ष प्रमाण है । एतदनुरूप चक्षु इन्द्रिय द्वारा वस्तु के साक्षात्कार से जन्य उपलब्ध ज्ञान को **चाक्षुष प्रत्यक्ष**, श्रवणेन्द्रिय द्वारा जन्य ज्ञान को **श्रावण प्रत्यक्ष** रसनेन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञान को **रासन प्रत्यक्ष** घ्राणेन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञान को **घ्राणज** प्रत्यक्ष, त्वगिन्द्रिय द्वारा उत्पन्न

---

१. आत्मशरीरेन्द्रियार्थ- बुद्धिमनः प्रवृत्ति- दोष-प्रेत्यभाव-फलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम् । न्यायसूत्र १-१-९

२. इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नज्ञानमव्यपदेश्यमव्यमिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । न्यायसूत्र १-१-४ बौद्धभारती, वाराणसी १९३९ ।

ज्ञान को **त्वाक् प्रत्यक्ष** कहते हैं । बाह्येन्द्रिय का अर्थ के साथ होने से इस पञ्चविध प्रत्यक्ष को **बाह्य प्रत्यक्ष** कहते हैं ।

इसी प्रकार एकादशेन्द्रिय मन के द्वारा किसी वस्तु के साक्षात्कार से जो ज्ञान उपलब्ध होता है, उसे **मानसप्रत्यक्ष** कहते हैं। व्यावहारिकता एवं अव्यावहारिकता की दृष्टि से ज्ञान के दो भेद हैं, एक नीतिकल्पक ज्ञान और दूसरा सविकल्पक ज्ञान । इसी आधार पर प्रत्यक्ष के भी निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दो भेद हैं । न्यायदर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु का ज्ञान प्रतिक्षण नष्ट होता जाता है । इस प्रकार प्रथम क्षण का ज्ञान द्वितीय क्षण में नहीं रहता । उदाहरणार्थ, घट को देखने पर प्रथम क्षण में उसका ज्ञान (यत् किंचित्) यह कुछ है, रूप से होता है, घट रूप का नहीं । इसीलिये इस यत्किञ्चित् रूप ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहा गया है। निर्विकल्पक ज्ञान की परिभाषा "नामजात्यादियोजनारहितनिर्विकल्पकम्" (नाम, जाति गुण एवं क्रिया आदि की योजना से रहित ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है ।) की गई है । किसी भी वस्तु का ज्ञान पहिले निर्विकल्पक ही होता है । इसके विपरीत 'सविकल्पक ज्ञान' वह ज्ञान है जिसमें द्रष्टा को वस्तु का प्रत्यक्ष, उसके नाम, जाति, गुण एवं क्रिया के सहित होता है, जैसे, "गौर वर्ण वाला राम पुस्तक पढ़ रहा है ।" यहां राम नाम, (मनुष्य) जाति, गौरवर्ण गुण तथा "पढ़ रहा है" क्रिया का बोधक है । ऐसी प्रतीति होती है कि न्याय सूत्र (१-१-४) के अन्तर्गत प्रत्यक्ष के लक्षण में प्रयुक्त 'अव्यपदेश्य' एवं 'व्यवसायात्मक' पद क्रमशः निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष के आधारभूत हैं, क्योंकि जिस प्रकार 'अव्यपदेश्य' का अर्थ अशाब्द अर्थात् शब्दों द्वारा व्याख्यान के अयोग्य है, वही स्थिति 'निर्विकल्पक' की भी है । ऐसे ही 'व्यवसायात्मक' ज्ञान के विशेष्य-विशेषणाभावावगाही ज्ञान होने के कारण नाम, जात्यादि से सहित सविकल्पक ज्ञान भी व्यवसायात्मक ज्ञान के सदृश ही है । अतः व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष को सविकल्पक प्रत्यक्ष की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है । तात्पर्य टीका[१] के अन्तर्गत, वाचस्पति मिश्र ने उक्त मत का सूत्र प्रस्तुत किया है । इसके पश्चात् कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक के अन्तर्गत

१. तात्पर्य टीका, पृ. १३३

प्रत्यक्ष के उपर्युक्त दोनों भेदों का निर्देश मिलता है । वैयाकरण 'निर्विकल्पक' ज्ञान को न स्वीकार कर 'सविकल्पक' को ही स्वीकार करते हैं । किन्तु बौद्ध दार्शनिक 'सविकल्पक' को किसी प्रकार न स्वीकार कर निर्विकल्पक को ही मानते हैं ।

प्रत्यक्ष प्रमाण के बोधार्थ 'संनिकर्ष' का ज्ञान परमापेक्षित है, अतः यहां छः संनिकर्षों का निरूपण किया जा रहा है ।

संनिकर्ष के छः प्रकार ('षोढा संनिकर्षः')

लौकिक संनिकर्ष के लिये अभीष्ट, इन्द्रिय एवं अर्थ (वस्तु) का संनिकर्ष संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, संवेतसमवाय तथा विशेषणभावरूप से छः प्रकार का है ।

१. संयोगसंनिकर्ष— चक्षु से घट का संयोग होने पर संयोग संनिकर्ष होता है । चक्षु एवं द्रव्य दोनों ही द्रव्य हैं, अतः द्रव्यों में संयोग सम्बन्ध होता है ।

२. संयुक्तसमवायसंनिकर्ष — चक्षु के द्वारा घट, तथा घट रूप का भी प्रत्यक्ष होता है । अतः स्पष्ट है कि चक्षु का घट के रूप के साथ संनिकर्ष है । परन्तु यह, घटरूप के साथ चक्षु का संनिकर्ष साक्षात् नहीं है, प्रत्युत घट के द्वारा चक्षु का घट 'रूप' के साथ सन्निकर्ष होता है, क्योंकि चक्षु और घट में संयोगसम्बन्ध है । इसके साथ-साथ यह भी निरूपणीय है कि घट एवं घट 'रूप', इन दोनों में 'गुण गुणिभाव' होने के कारण 'अयुतसिद्धत्त्व' है, अतः 'समवाय' सम्बन्ध है । इस प्रकार संयुक्तसमवायसंनिकर्ष से घट 'रूप' का प्रत्यक्ष होता है ।

३. संयुक्तसमवेतसमवाय—जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, चक्षु का घट के साथ 'संयोग' सम्बन्ध है तथा घट 'रूप' के साथ चक्षु का 'संयुक्त समवाय' सम्बन्ध है । एवञ्च चक्षु के साथ 'पुस्तक रूपत्व' का 'संयुक्त-समवेत-समवाय' सम्बन्ध है, क्योंकि जाति (घटरूपता) एवं व्यक्ति घट में अयुतसिद्धत्व होने के कारण 'समवाय' सम्बन्ध है । यहां यह स्पष्ट है कि संयुक्तसमवेतसमवायसंनिकर्ष साक्षात् न होकर परम्परया है ।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु की 'जाति' तथा उसके 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, जब चक्षु , इन्द्रिय से 'घट' 'व्यक्ति' का ज्ञान होता है, तो उसके साथ-साथ 'घटत्व' जाति एवं घटरूपत्व का भी ज्ञान होता है। साथ ही, घटत्व 'जाति' के ज्ञान से 'पटभिन्नत्व' रूप 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। अर्थात् जब घट का ज्ञान होता है, तो घट, पट से भिन्न है, यह ज्ञान भी होता है। घट में पट का 'अभाव' है, यही 'अभाव' ज्ञान है।

४. **समवायसंनिकर्ष** — श्रोत्र एवं शब्द में समवायसंनिकर्ष है। वस्तुतः श्रोत्र आकाश ही है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बाहर से दिखाई पड़ने वाला कान श्रोत्र नहीं है, अपितु श्रोत्र 'कर्णशष्कुलि' के अन्तर्गत वर्त्तमान है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है। अतः शब्द आकाश का गुण है, तथा इन दोनों में 'गुणगुणिभाव' सम्बन्ध है। 'गुणगुणिभाव होने के कारण 'अयुतसिद्धत्व' होने से समवायसंनिकर्ष है। इस प्रकार श्रोत्र 'समवाय' सम्बन्ध के द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष करता है।

५. **समवेतसमवायसंनिकर्ष** — श्रोत्र के साथ शब्द का 'समवाय' सम्बन्ध है, जैसा कि अभी कहा गया है, तथा शब्द का शब्दत्व के साथ समवाय सम्बन्ध है, क्योंकि शब्द और 'शब्दत्व' में व्यक्ति तथा 'जाति' का सम्बन्ध है। यह 'अयुत सिद्धत्व' है, अतः 'समवायसम्बन्ध' है। इस प्रकार श्रोत्र के साथ शब्द का समवाय सम्बन्ध एवं शब्द के साथ शब्दत्व का समवायसम्बन्ध होने के कारण कान के साथ शब्दत्व का समवाय-समवाय (श्रोत्र + शब्द + शब्दत्व) अर्थात् 'समवेत समवाय' सम्बन्ध है।

६. **विशेषणविशेष्यभावसंनिकर्ष** — उपर्युक्त पांच प्रकार के संनिकर्ष के द्वारा भावरूप पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु 'अभाव' का प्रत्यक्ष 'विशेषण-विशेष्य भाव' संनिकर्ष के द्वारा ही सम्भव है। 'अभाव' क्या है? सामान्यतः किसी वस्तु का किसी स्थान पर न पाया जाना 'अभाव' है, जैसे घट का किसी कक्ष में अभाव हो सकता है। इस स्थल पर यह निर्देश करने योग्य है कि जिस इन्द्रिय से

जिस वस्तु के भाव का प्रत्यक्ष होता है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष होता है । उदाहरण के लिये चक्षु इन्द्रिय द्वारा घट का प्रत्यक्ष होता है, तथा चक्षु के द्वारा ही जहां घट नहीं है, वहां घटाभाव का भी ज्ञान होता है । 'भाव' (घट) एवं 'अभाव' (घटाभाव) का यह भेद द्रष्टव्य है कि 'भाव' द्रव्य है तथा 'अभाव' पदार्थ है । 'अभाव' के विशेष्यविशेषणभावसंनिकर्ष से ज्ञान की यह प्रक्रिया है कि जिस भूतल भाग पर घट नहीं है, उसे 'घटाभावविशिष्ट' भूतल कहा जाता है ।[१] इस उदाहरण के अन्तर्गत 'भूतल' विशेष्य एवं 'घटाभाव' विशेषण है । अत: उक्त उदाहरण में 'विशेष्यविशेषण सम्बन्ध के द्वारा चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि मीमांसक नैयायिक की उपर्युक्त प्रक्रिया अस्वीकार करते हुए, 'विशेष्य-विशेषण भाव' सम्बन्ध के द्वारा 'अभाव' का ज्ञान न मानकर 'अभाव' को पांचवां स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं जो 'गौरवदोषात्' नैयायिक से स्वीकार नहीं है ।

चाक्षुष आदि में ज्ञान के लिये मन, आत्मा, तथा त्वगिन्द्रिय के सन्निकर्ष की आवश्यकता—उपर्युक्त सभी प्रकार के ज्ञान के लिए इन्द्रियार्थ, जैसे (चक्षु इन्द्रिय एवं घट अर्थ) के अतिरिक्त, (मन), 'अन्तरिन्द्रिय' तथा ज्ञान के आश्रय, आत्मा के 'संयोग' की भी **अनिवार्यत:** आवश्यकता है । यों तो आत्मा के विभु होने के कारण, आत्मा तथा मन का संयोग स्वाभाविक है, किन्तु वस्तु-ज्ञान के लिये यह सम्बन्ध पर्याप्त नहीं है । अतएव जब मन का, अर्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय के साथ 'संयोग' होता है, तथा इस संयोग से युक्त मन के साथ आत्मा का सन्निकर्ष होता है, तभी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार मन का अर्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय के साथ 'संयोग' हुए बिना वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं है । इसीलिये सांख्य दर्शन में 'मनोऽनवस्थानात्[२]' कह कर मन की अवस्थिति स्वीकार की गई है ।

---

१. घटाभाववद्भूतलम् ।

२. सांख्यकारिका,७ ।

प्रत्यक्ष ज्ञान की सम्भवता में यह तथ्य भी अवलोकनीय है कि 'त्वक्' इन्द्रिय के साथ मन का संयोग न रहने पर भी वस्तु ज्ञान सम्भव नहीं है। इसका उदाहरण यह है कि सुषुप्ति अवस्था में जब मन 'पुरीतत्' नाड़ी में प्रवेश करता है, तो उस स्थिति में जीव को ज्ञान नहीं होता क्योंकि वहां 'त्वक्' इन्द्रिय नहीं है। इसीलिये सुषुप्ति से उठने के पश्चात् व्यक्ति यही कहता है कि "सुखमहमस्वाप्सम्" (मैं सुख से सोया, किन्तु मुझे कुछ ज्ञान नहीं है)। ज्ञान के इस अभाव का कारण यह है कि 'सुषुप्ति' अवस्था में त्वक् इन्द्रिय नहीं रहती।

मानस प्रत्यक्ष — जिस प्रकार बाह्येन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सन्निकर्ष से 'अर्थ' का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा सन्निकर्ष से सुख दु:खादि का प्रत्यक्ष होता है। मानस प्रत्यक्ष से सन्दर्भ में सन्निकर्ष की प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिए कि सुखदु:खादि आत्मा के गुण होने के कारण, ये आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहते हैं।[१] इस प्रकार मन का आत्मा के साथ 'संयोग', आत्मा के गुणों के साथ संयुक्तसमवाय, गुणों की जातियों के साथ संयुक्त समवेत समवाय संनिकर्ष से प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार मानस अभाव अर्थात् सुखाभाव दु:खाभाव आदि पहले का विशेष्यविशेषण भाव संनिकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष सम्भव है, जैसा कि 'अभाव' के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में पहिले भी कहा जा चुका है। उपर्युक्त लौकिक संनिकर्षों के अतिरिक्त न्यायदर्शन में अलौकिक संनिकर्षों की भी व्याख्या मिलती है। यहां उनके सम्बन्ध में भी विचार करना अपेक्षित है।

अलौकिक संनिकर्ष सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति तथा योगजप्रत्यक्ष—इस त्रिविध अलौकिक संनिकर्ष की व्याख्या, न्यायदर्शन में की गई है। सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के अनुसार धूमत्व सामान्य के साथ जब चक्षु का सम्बन्ध होता है, तो यह सामान्य-लक्षणा प्रत्यासत्ति 'संनिकर्ष' का उदाहरण बनता है। वस्तुस्थिति यह कि जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है (यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्नि) इस व्याप्ति के आधार पर लोक में जहां धूम को देखा जाता है, वहां

---

१. गुणगुणिनोः समवायः।

चक्षु और धूम का संयोग संनिकर्ष सम्भव है, किन्तु भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान में जिस धूम का प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, अर्थात् लोक में जिसे नहीं देखा है, चक्षु तथा धूम का संयोग नहीं हुआ है, उस धूम के प्रत्यक्ष उपर्युक्त में व्याप्ति की चारितार्थता किस प्रकार सम्भव है । इस समस्या का समाधान न्यायदर्शन में इस प्रकार किया गया है कि प्रथमवार जहां धुएं का चक्षु से 'संयोग सम्बन्ध' हुआ तो धूम विशेष्य है तथा धूमत्व, विशेषण अथवा 'प्रकार' हैं । अत: जब चक्षु के साथ धूम का 'संयोग सम्बन्ध' हुआ तो साथ ही 'धूमत्व' जाति के साथ भी चक्षु का 'संयुक्त समवाय सम्बन्ध' हुआ, एवंच धूमत्व का प्रत्यक्षःज्ञान भी हुआ । यह विचारणीय है कि धूमत्व जाति नित्य होने के कारण, भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमान, इन तीनों कालों में वर्त्तमान रहती है । इस प्रकार महानस (रसोईघर) के धूम तथा धूमत्व को देखकर, सभी अविद्यमान धूमों का ज्ञान हो जाता है । इस प्रकार चक्षु का 'धूमत्व' सामान्य के साथ सम्बन्ध होने से ही उक्त ज्ञान सम्भव है । इस प्रकार इस सम्बन्ध को **सामान्य-लक्षणाप्रत्यासत्तिसंनिकर्ष** कहते हैं। दूसरा अलौकिक संनिकर्ष '**ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति**' है । उदाहरणार्थ जब चन्दन के साथ चक्षु इन्द्रिय का संयोग होता है तथा घ्राण से चन्दन की सुगन्धि का ज्ञान होता है, तो यह ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति कहलाती है । इस प्रक्रिया में 'यह चन्दन है', इस प्रकार का ज्ञान होने पर चन्दन की सुगन्धि का भी ज्ञान हो जाता है । इसीलिये इसे, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति कहते हैं । तृतीय अलौकिक संनिकर्ष का उदाहरण **योगज प्रत्यक्ष** है । सामान्यत: प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये जिन लौकिक उपायों की आवश्यकता होती है, योगियों के लिये उन उपायों की अपेक्षा नहीं होती। योगियों को योगबल से समस्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष बिना किसी लौकिक सहायता से सम्पन्न होता है, इसीलिये इस ज्ञान को **अलौकिकयोगजप्रत्यक्ष** कहते हैं । इस प्रकार के ज्ञान के लिये लौकिक संनिकर्ष की अपेक्षा नहीं होती । निदर्शन के लिये, योगी शंकराचार्य को अपने जन्मस्थान, कालडी से कोसों दूर होते हुए भी अपनी जननी के देहावसान का ज्ञान हो गया था ।

अनुमान प्रमाण — परोक्ष वस्तु का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा सम्भव है। न्याय के आचार्यों ने 'अनुमान' की एकाधिक परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। इनमें निम्नलिखित प्रमुख परिभाषाएं हैं—

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च"[१]

उपर्युक्त्य परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्षपूर्वक अनुमितिकरण को अनुमान कहते हैं।

भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि उक्त परिभाषा के अन्तर्गत 'तत्पूर्वक' से 'लिङ्ग' (हेतु अर्थात् धूम) लिङ्गी (हेतुमान अर्थात् पर्वत) का सम्बन्ध (व्याप्ति दर्शन) तथा 'लिङ्ग' दर्शन इन दोनों का भी परामर्श कर लेना चाहिए।[२] इस परिभाषा के अन्तर्गत यह भी समझ लेना चाहिए कि सम्बद्ध हेतु अर्थात् धूम लिङ्ग स्मृति (धूम की स्मृति) से सम्बद्ध होता है, तथा स्मृति एवं 'लिङ्ग परामर्श' से अप्रत्यक्ष अर्थ अर्थात् अग्नि का अनुमान होता है। यह अनुमान तीन प्रकार का है — पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट। इन के सम्बन्ध में विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

१. अनुमीयतेऽनेन इति अनुमानम्

   जिससे अनुमान किया जाए, वह अनुमान है।

२. अनुमितिकरणमनुमानम्

   अर्थात् अनुमितिकरण, अनुमान है। इस प्रकार लिङ्ग परामर्श अनुमान है।

३. लिङ्ग परामर्शोऽनुमानम्

   अर्थात् 'लिङ्ग' का 'परामर्श' अनुमान कहलाता है। धूम तथा अग्नि के उदाहरण में धूम अग्नि का 'लिङ्ग' है एवं धूम का पर्वत पर 'परामर्श' अनुमान है।

---

१. न्यायसूत्र १-१-५

२. 'तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बन्ध्यते। वात्स्यायन भाष्य १-१-५

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त परिभाषाओं के अन्तर्गत किसी प्रकार का विरोध नहीं है ।

अनुमान की प्रक्रिया—सामान्यतः अनुमान की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए यह कहा जाएगा कि जिस प्रक्रिया के द्वारा 'परोक्ष', वस्तु का ज्ञान सम्भव होता है, उसे अनुमान कहते हैं । परोक्ष वस्तु का यह ज्ञान 'लिङ्ग' 'परामर्श' के द्वारा होता है । अनुमान की प्रक्रिया के विशदीकरणार्थ, सर्वप्रथम लिङ्ग, लिङ्गी, पक्ष, सपक्ष लिङ्ग परामर्श, एवं व्याप्ति का बोध आवश्यक है, अतः इस सम्बन्ध में विचार करना समुचित होगा ।

लिङ्ग— 'लिङ्ग' शब्द का सामान्य अर्थ 'चिन्ह' अथवा पहिचान है । लिङ्ग छिपे हुए अर्थ का बोध कराता है । लीनमर्थं गमयति इति लिङ्गम् न्यायदर्शन में इसे 'हेतु' भी कहते हैं । उदाहरण के लिये पर्वत पर अग्नि है । पर्वतो वह्निमान् इति प्रतिज्ञा वाक्य में, पर्वत् पर अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये धूम 'हेतु' का कार्य करता है । इस प्रकार लिङ्ग (धूम) छिपे हुए अर्थ अर्थात् अग्नि का ज्ञान कराता है ।

लिङ्गी — जिसका उपर्युक्त 'लिङ्ग' होता है, वह 'लिङ्गी' है । धूमाग्नि के दृष्टान्त में अग्नि 'लिङ्गी' है । लिङ्ग-लिङ्गि भाव के सम्बन्ध से 'लिङ्गि' (अग्नि) का स्मरण होता है तथा इस प्रकार पर्वत पर अग्नि का अनुमान होता है ।

पक्ष—धूमयुक्त होने के कारण, पर्वत 'वह्निमान्' है, इस अनुमान वाक्य में, पर्वत पर अग्नि की सिद्धि, धूम हेतु के द्वारा, अनुमान की प्रक्रिया से सिद्ध होती है, अतः पर्वत 'पक्ष' है ।[१]

इस प्रकार जहां 'अनुमेयार्थ (अग्नि) का 'लिङ्ग' अर्थात् धूम दृष्टिगोचर होता है, वह (पर्वत), 'पक्ष' है । पर्वत पर धूम, पर्वत अर्थात् 'पक्ष' के धर्म के रूप में स्थित है, इसे पर्वत की पक्षधर्मता कहते हैं ।

---

१. पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद्द्वितीयम् । ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम् । अस्त्यत्रपर्वतेऽग्निरिति अनुमितिज्ञानमुत्पद्यते । तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण ।

सपक्ष — "जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है" इस व्याप्ति के द्वारा पर्वत पर अग्नि की सिद्धि के लिये दृष्टान्त की आवश्यकता है, अत: इस सम्बन्ध में महानस (रसोई घर) का दृष्टान्त दिया जाता है, क्योंकि रसोई घर में धूमाग्नि का साहचर्य देखा जाता है । यहां महानस 'सपक्ष' 'समानपक्ष' है, वह इसलिये जिस प्रकार पर्वत पर धूम 'हेतु' की सत्ता है, उसी प्रकार महानस में भी धूम की सत्ता है । अन्तर केवल इतना है कि महानस में 'अग्नि' (पर्वत पर साध्य अग्नि) सिद्ध है, जबकि पर्वत पर वह साध्य है ।

लिङ्गपरामर्श—लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहते हैं[१] सामान्य रूप से लिङ्ग परामर्श का अर्थ हेतु का विचार है, किन्तु प्रकृत्त स्थल पर 'लिंग परामर्श' का अर्थ हेतु धूम के तृतीय ज्ञान का विचार है । इस सम्बन्ध में यहां यह बोध्य है कि धूम 'हेतु' का प्रथम ज्ञान वह है, जब द्रष्टा ने धूम को महानस (रसोई घर) में देखा था, दूसरा ज्ञान वह है, जब उसने पर्वत पर धूम को साध्य अग्नि के हेतु के रूप में देखा था, तथा तीसरा ज्ञान वह है, जब द्रष्टा पर्वत पर धूम 'हेतु' को उपसंहार रूप (यहां भी धूम है) में देखता हैं । यही तृतीय ज्ञान 'लिंग परामर्श' कहलाता है । इस स्थिति में द्रष्टा यहां भी धूम है, अत: अग्नि है, इस रूप में उपसंहार करता है ।

यहां यह उल्लेख योग्य है कि अनुमान उसी स्थल पर होता है जहां केवल लिंग (धूम) का प्रत्यक्ष होता है, लिंगी (अग्नि) का नहीं । उदाहरणार्थ, जब द्रष्टा पर्वत पर धूम का प्रत्यक्ष करता है, तो उसे अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं होता इस प्रकार पर्वतस्थ धूम साध्य अग्नि का आधार बनता है । इससे यह स्पष्ट है कि महानस में द्रष्टा जो धूम एवं अग्नि का साहचर्य देखता है, वह प्रत्यक्ष का विषय है, अनुमान का कदापि नहीं ।

व्याप्ति — 'साहचर्य नियम' को व्याप्ति कहते हैं ।[२] यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः (जहां धूम है, वहां अग्नि है) यह साहचर्य नियम है, क्योंकि महानस (रसोईघर) में धूम एवं अग्नि का साहचर्य दृष्टि गोचर होता है । जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया

१. लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । तर्कभाषा, अनुमानप्रकरणम्

२. साहयर्चनियमो व्याप्तिः ।

गया है, लिंग परामर्श (पर्वत पर तृतीय लिंग धूमज्ञान) अनुमान है। किन्तु लिंग अर्थात् धूम रूप हेतु व्याप्ति के साहाय्य से ही अग्नि का बोध कराता है।[१] इस प्रकार यदि देखा जाए तो व्याप्ति अनुमान की प्रक्रिया का प्राण है। द्रष्टा, पुनः पुनः जब रसोईघर में धूम एवं अग्नि का साहचर्य (साथ साथ रहना) देखता है, तो वह इस निर्णय पर पहुंचता है कि जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है। (यत्र तत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः)। इस व्याप्ति के आधार पर द्रष्टा पर्वत पर, उपर्युक्त प्रक्रिया से लिंग परामर्श करके साध्यरूप अग्नि की सिद्धि अर्थात् ज्ञान प्राप्त करता है। व्याप्ति का अर्थ 'अविनाभावसम्बन्ध' भी है। 'अविनाभाव' के अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तु के बिना नहीं रह सकती, जैसे कि धूम अग्नि के बिना नहीं रह सकता।

यहां यह तथ्य भी उल्लेख करने योग्य है कि व्याप्ति धूम तथा अग्नि के साथ सम्पन्न होती है, न कि अग्नि और धूम के साथ। इसका कारण यह है कि सर्वत्र अग्नि एवं धूम का साहचर्य नहीं देखा जाता उदाहरणार्थ अयस् पिंड (लौह के गोले में अग्नि है, किन्तु धूम की सत्ता नहीं है। इसके विपरीत धूम के साथ अग्नि का साहचर्य सम्बन्ध सदैव देखने में आता है किन्तु अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध आर्द्रेन्धन संयोग (गीले ईंधन का संयोग) होने पर ही सम्भव है। किन्तु ईंधन के सूखे होने पर अग्नि एवं धूम का साहचर्य सम्बन्ध नहीं देखने में आता। अतः न्याय दर्शन, में आर्द्रेन्धन संयोग को उपाधि कहा गया है। इस प्रकार व्याप्ति के लिए 'उपाधि' का अभाव अनिवार्यतः अपेक्षित है। अतएव न्याय दर्शन के अन्तर्गत धूम तथा अग्नि के उपाधि रहित नियत साहचर्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहा गया है। वस्तुतः धूमाग्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक है, औपाधिक नहीं।[२]

व्याप्तिपंचक — व्याप्ति के सम्यक् बोध के लिये 'व्याप्ति पंचक', का ज्ञान अत्यावश्यक है। व्याप्तिपंचक के अन्तर्गत अन्वयव्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधिनिरास तर्क, एवं सामान्य लक्षण, ये पांच सिद्धान्त गृहीत् है। एक वस्तु के रहने

१. व्याप्तिवलेनार्थगमकं लिङ्गम्। तर्कभाषा, अनुमानप्रकरणम्।

२. तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकः एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। त. भा. अनुमाननिरूपणम्।

पर दूसरी वस्तु का भी रहना 'अन्वय' कहलाता है ।[१] उदाहरणार्थ,धूम के रहने पर अग्नि का रहना 'अन्वय' है । इसका उदाहरण महानस है । व्यतिरेक अन्वय के विपरीत है । एक वस्तु के न रहने पर दूसरी वस्तु का न रहना व्यतिरेक है । जैसे कि सरोवर में अग्नि के न रहने पर धूम का न रहना व्यतिरेक कहलाता है ।[२] इस प्रकार व्याप्तिसिद्धि के लिये 'अन्वय' एवं 'व्याप्ति' का रहना आवश्यक है । **व्यभिचाराग्रह** का अर्थ 'व्यभिचार' का ग्रहण न करना अथवा दिखाई न देना है । इसका अर्थ यह है कि जहां अग्नि नहीं है, वहां धूम भी नहीं है, इसके विपरीत कोई दृष्टान्त नहीं मिलना चाहिए ।

उपाधि निरास से उपाधि का न होना अपेक्षित है, जैसा कि ऊपर भी स्पष्ट किया जा चुका है, (आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि) है । **तर्क** का आशय तर्क की अनुकूलता से है । उदाहरणार्थ, जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है, इस तर्क का अनुकूल तर्क मिलना चाहिए जैसा कि पर्वत पर यदि अग्नि नहीं होती तो धूम भी नहीं होता । इस प्रकार पर्वत पर भी धूम एवं अग्नि का साहचर्य उपलब्ध होता है । सामान्यलक्षण व्याप्ति के लिये आवश्यक है । उदाहरणार्थ, (जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है) । यदि यह सामान्य लक्षण नहीं होगा तो धूमाग्नि साहचर्यरूप व्याप्ति भी नहीं सिद्ध होगी ।

इस प्रकार व्याप्ति सिद्धि के लिये उपर्युक्त व्याप्तिपंचक परम आवश्यक है ।

अनुमान के भेद— सामान्यतः अनुमान दो प्रकार का है, स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान जो स्वयं अपने ज्ञान के लिये होता है, वह स्वार्थानुमान है । उदाहरणार्थ द्रष्टा जब महानस में धूमाग्नि के विशेष प्रत्यक्ष से स्वयं ही धूम तथा अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण कर, पर्वत के समीप गया हुआ, पर्वत पर अग्नि के विषय में सन्देह करता है एवं पर्वत पर अविच्छिन्न धूमरेखा को देख कर संस्कारों के उद्बुद्ध होने

---

१. तत् सत्वे तत् सत्त्वमन्वयः ।

२. तदभावे तदभावो व्यतिरेकः ।

पर, 'जहां धूम है, वहां अग्नि है' इस व्याप्ति का स्मरण करता है एवं इसके पश्चात् समीपस्थ पर्वत में भी धूम है, इस प्रकार तृतीयवार उपर्युक्त लिंग परामर्श करते हुए, पर्वत पर अग्नि है, ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है, तो यह स्वार्थानुमान होता है। किन्तु जब व्यक्ति उक्त प्रकार से अनुमान का ज्ञान प्राप्त करके, पञ्चावयव वाक्य के द्वारा दूसरे व्यक्ति को अनुमान का बोध कराता है, तो वह परार्थानुमान कहलाता है। यहां पञ्चावयव वाक्य का जिस के अन्तर्गत, प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, एवं निगमन, गृहीत् हैं, निरूपण अपेक्षित है।

१. **प्रतिज्ञा** पर्वत पर अग्नि है।

२. **हेतु** क्योंकि पर्वत में धूम है।

३. **दृष्टान्त** अथवा **उदाहरण**– जैसे महानस (रसोईघर) में धूम के साथ अग्नि देखी जाती है।

४. **उपनय** 'जहां धूम है, वहां अग्नि है' इस प्रकार साहचर्य अथवा अविनाभाव से धूम पर्वत में विद्यमान है।

५. **निगमन** अतएव पर्वत में अग्नि है। इस पञ्चावयव[१] वाक्य को 'परमन्याय' भी कहते हैं।

समीक्षा — अनुमान वाक्य के सम्बन्ध में न्यायदर्शन एवं इतर दर्शनों के आचार्यों में मतभेद है। निदर्शनार्थ वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (१-१-३२) के अन्तर्गत जिज्ञासा, संशय शक्यप्राप्ति प्रयोजन एवं संशय **व्युदास,** इन पांच वाक्यों का भी उल्लेख किया है। नैयायिक भद्रवाहु संशयव्युदास के स्थान पर आशङ्का प्रतिषेध को मानते हैं। किन्तु वात्स्यायन का मत है कि ये पांच वाक्य अवधारणीयार्थ के उपकारक मात्र है।[२] साक्षात् रूप से अनुमान सिद्धि में नितान्त रूप से साधक नहीं है। वेदान्त एवं मीमांसा दर्शन के अनुसार उपयुक्त पांच वाक्यों में आदिम तीन

---

१. यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादाग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्वात्, यो यो धूमवान् सः सोऽग्निमान्, यथा महानसः तथा चायं तस्मात् तथा इति। तर्कभाषा, पृ.८० १९५३ (आ.विश्वेश्वरसं.)

२. अवधारणीयार्थोपकारात् न्या. भा. १-१-३२

अथवा अन्तिम तीन वाक्यों से ही अनुमेयार्थ सिद्धि सम्भव है। कतिपय विद्वान् मानते हैं कि दृष्टान्त एवं उपनय को छोड़कर प्रतिज्ञा, हेतु एवं निगमन से ही अनुमान सिद्धि सम्भव है। इस प्रकार 'धूमवत्वाद वह्निमानयं पर्वत:' इतने मात्र से ही तत्वार्थ सिद्धि सम्भव है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अनुमान सिद्धि के लिये पञ्चावयव वाक्य का मानना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि यह एक सुव्यवस्थित पद्धति है तथा इसका अनुसरण करने पर किसी औचित्य शङ्का के लिये अवसर नहीं रह जाता।

पाश्चात्य पद्धति

पाश्चात्य तर्क पद्धति के प्रमुख जन्मदाता ग्रीक दार्शनिक अरस्तू हैं। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित अनुमान वाक्य के अन्तर्गत तीन प्रकार के तर्क वाक्य आते हैं।

१. निरपेक्ष वाक्य (Catagorical) वाक्य २. काल्पनिक (Syllogism) वाक्य तथा वैकल्पिक (Disjunctive) वाक्य इन्हीं तीन वाक्यों के द्वारा पाश्चात्य दर्शन में अनुमान प्रक्रिया की सिद्धि की गई है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में केवल तीन वाक्यों से अनुमान सिद्धि का विधान है। ये तीन वाक्य हैं, साध्यवाक्य (Major premise) पक्ष वाक्य (Minor) तथा परिणाम या निष्कर्ष वाक्य (Conclusion premise) जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय न्याय शास्त्र में अनुमान की प्रक्रिया के अन्तर्गत पञ्चावयव वाक्य को स्वीकार किया गया है। यहां भारतीय एवं पाश्चात्य न्याय की अनुमान प्रक्रिया का यह अन्तर द्रष्टव्य है कि जहां पाश्चात्य न्याय में अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक, कभी सर्वव्यापी (Universal) तथा कभी अंशव्यापी (Particular) होता है, वहां भारतीय न्यायशास्त्र के अन्तर्गत वह सर्वव्यापी (Universal) भावात्मक रूप से एक ही प्रकार का होता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र एवं भारतीय न्याय की अनुमान प्रक्रिया का यह प्रमुख अन्तर भी विचारणीय है कि जहां भारतीय न्याय में हेतु एवं दृष्टान्त इन दो वाक्यों का समन्वय 'उपनय' (परामर्श की स्थिति) के अन्तर्गत हो जाता है, वहां पाश्चात्य न्याय में समन्वय की ऐसी कोई प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है। कहने की बात नहीं, कि भारतीय अनुमान पद्धति में 'लिंग परामर्श' का महत्त्वपूर्ण

योगदान है, जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है । भारतीय न्यायशास्त्र एवं पाश्चात्य तर्कशास्त्र की अनुमान पद्धति का यह भेद भी उल्लेखनीय है कि भारतीय अनुमान पद्धति में समस्त दोष, हेतु के आभास (हेत्वाभास) पर आश्रित रहते हैं, जबकि पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अन्तर्गत पक्षाभास (Elicit minor) तथा साध्याभास (Elicit major) दोषों को भी स्वीकार किया गया है ।

भारतीय न्याय शास्त्र एवं पाश्चात्य तर्कविद्या का यह पक्ष भी विचारणीय है कि पाश्चात्य तर्कदृष्टि के अनुसार, अनुमान में मात्र आकारगत (Formal) सत्यता ही उपलब्ध होती है, किन्तु भारतीय दृष्टि के अनुसार, अनुमान में तात्त्विक एवं आकारगत, दोनों प्रकार की सत्यता की उपलब्धि होती है ।

पञ्चावयव वाक्य के सम्बन्ध में सतीशचन्द्र विद्याभूषण का मत —

जैसा कि प्रसिद्ध नैयायिक समालोचक विद्वान् सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने अपने ग्रन्थ (Indian Logic) की भूमिका में स्पष्ट किया है, भारतीय न्याय के पञ्चावयव वाक्य का मूलरूप पाश्चात्य दर्शन विशेषतः अरस्तू के तर्कदर्शन में मिलता है । ये लिखते हैं ।

"But so far as the five limbed Syllogism of Hindu Logic is concerned, the Hindu logicians may have been indicated same way or the other to the Greeks. While the syllogism definitely formulated as a logical doctrine by Aristotle in its Rhetoric Prior Analytics and Posteriar Analytics in the 4th century B.C., the Hindu logician shows but a vague conception of it, as late as the first century, B.C. It is not inconcievable that the knowledge of Aristotle, logic found its way through Alexendria Syria and other countries into Taxila. This is rightly corroborated by the Hindu tradition that Nārada who visited Alexendria (Śvetadvīpa) & because an expert in the handling of the five limbed syllogism.

I am inclined therefore, to think that the syllogism did not actually evolve in Indian logic, but inference & that the Hindu logician owed the idea of syllogism to the influence of Aristotle.[१]

उपर्युक्त कथन के अन्तर्गत विद्याभूषण जी का यह विचार पञ्चावयववाक्य पद्धति का पूर्ण विकास ई. पू. चतुर्थ शताब्दी में अरस्तू के समय में ही हो चुका था तथा उसका विकास भारतवर्ष में प्रथम शताब्दी ई. पू. में भी नहीं हो पाया था, समुचित नहीं है । इस सम्बन्ध में, यह कहा जाएगा कि भारत में पञ्चावयववाक्य का परिमार्जन परिष्कार पाणिनि के काल, ई. पू. पञ्चम शताब्दी से पूर्व ही हो चुका था । उदाहरणार्थ, अष्टाध्यायी के चतुर्थपाद के द्वितीय अध्याय में 'क्रतूक्थादि सूत्रान्तात् ठक्(४-२-६) सूत्र में 'उक्थादि' गण के अन्तर्गत 'न्याय' शब्द भी सम्मिलित है । इस प्रकार न्याय शब्द से 'तदधीतेतद्वेद' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होने पर पाणिनि के मतानुसार 'नैयायिक' शब्द निष्पन्न होता है । इससे यह स्पष्टतया द्योतित होता है कि पाणिनि के काल ई. पू. ५वीं शताब्दी से पूर्व न्यायदर्शन के अध्ययन की परम्परा वर्तमान थी । इस तर्क का समर्थन पश्चिमी विद्वान् गोल्डस्टकर के मत से भी हो जाता है, जिन्होंने कहा है कि पञ्चावयव अनुमान वाक्य का विकास भारत में अरस्तू से पूर्वकाल में ही हो चुका था। गोल्डस्टकर ने अपने मत के समर्थन में 'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च' (अष्टाध्यायी, २-३-१२२) तथा 'परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः'[२] (अष्टा. ३-३-३७) सूत्रों को उद्धृत करते हुए कहा है:

That Nyāya was known to Pāṇini in the sense of syllogim or logical reasoning or perhaps logical sciences, I conclude from the sūtra III, 3, 122 where its affix conveys the sense of instrumentality i.e., that by which analysis (lit. enlarging) is effected far in the same form,

१. Introduction to the Indian logic. pp. X.V

२. यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः ।

Nyāya is made the subject of another rule, III, 3, 37 where Pāṇini gives as its meaning 'Propriety, Good conduct' which would lead to its later meaning 'Policy'. Unless we draw the distinction between the two sutras named, the first sutra becomes superfluous. Nor is it probable that a civilization like that which is traciable to Pāṇini rules could have done, without a word for syllogistic thought.[1]

आगमन (Inductive) तथा निगमन (Deductive) पद्धति

पाश्चात्य तर्क पद्धति के अन्तर्गत 'आगमन' (Inductive) पद्धति का अभिप्राय, अनेक उदाहरणों के द्वारा सामान्य नियम का अनुमान करना है तथा 'निगमन' (Deductive) पद्धति के द्वारा तर्क की सहायता से व्यापक से 'व्याप्य' का अनुमान सिद्ध करना है। जहां तक न्यायदर्शन का प्रश्न है, इसमें उक्त दोनों पद्धतियों का समन्वय वर्त्तमान है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय अनुमान पद्धति के अनुरूप 'व्याप्ति' अनुमान की प्रक्रिया का प्राण है। साथ ही, पञ्चावयव वाक्य के अन्तर्गत चतुर्थ वाक्य, 'उपनय' अथवा 'परामर्श' 'पर्वत' पर तृतीय लिंग, धूम का ज्ञान अनुमान के लिये, अनिवार्यत: आवश्यक है। अपि च 'परामर्श ज्ञान' के साथ-साथ पर्वत पर वह्नि व्याप्य धूम का ज्ञान भी आवश्यक है।[२] इस प्रकार 'पञ्चावयव' वाक्य का अन्तिम वाक्य, निगमन वाक्य जो 'प्रतिज्ञा' हेतु द्वारा सिद्ध की गई थी, उसका उल्लेख करता है। इस प्रकार न्याय दर्शनानुगत अनुमान पद्धति में पाश्चात्य तर्कशास्त्र की 'आगमन' (Inductive) तथा निगमन (Deductive), इन दोनों सिद्धान्तों का समावेश एवं समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

---

१. Pāṇini, p. 116.

२. वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वतः।

ऊपर 'परार्थानुमान' में प्रयुक्त 'पञ्चावयव' वाक्य का न्यायदर्शन एवं पाश्चात्य तर्कशास्त्र की दृष्टि से विवेचन किया गया है ।

न्यायदर्शन में 'स्वार्थानुमान' एवं 'परार्थानुमान' इन दो प्रकारों के अतिरिक्त अनुमान की प्रक्रिया को सुलझाने के लिये तीन और भेद किये हैं । ये भेद हैं 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' एवं 'सामान्यतोदृष्ट' । इस स्थल पर इन तीनों भेदों का निरूपण अपेक्षित समझकर किया जा रहा है ।

१. पूर्ववत् अनुमान— जब कारण से कार्य का अनुमान लगाया जाता है, तो 'पूर्ववत्' अनुमान होता है ।[१] उदाहरणार्थ बादलों के घिर जाने से 'वर्षा होगी' ऐसा अनुमान 'पूर्ववत्' अनुमान है ।

२. शेषवत् अनुमान — पूर्ववत् अनुमान के विपरीत जब कार्य से कारण का अनुमान लगाया जाता है, तो 'शेषवत्' अनुमान होता है । निदर्शनार्थ, नदी में पहले की अपेक्षा अधिक जल को देखकर अथवा नदी को वेगपूर्वक प्रवहमान देखकर 'वर्षा हुई है', ऐसा अनुमान किया जाता है । इस उदाहरण में नदी के जल की वृद्धि अथवा उसका वेगपूर्ण प्रवाह कार्य है तथा वृष्टि कारण है । [२]

३. सामान्यतोदृष्ट — सामान्यतोदृष्ट अनुमान तब होता है जब किसी को पहले देखकर उसे अनन्तर भी देखा जाता है, तथा उसमें गति का अनुमान लगाया जाता है । उदाहरणार्थ, किसी ने सूर्य को प्रातःकाल पूर्वदिशा में तथा सायङ्काल में पश्चिम दिशा में देखा और यह अनुमान किया कि सूर्य गतिमान है ।[३]

एक अन्य प्रकार से भी उपर्युक्त त्रिविध अनुमान का व्याख्यान किया जाता है । **'पूर्ववत्' अनुमान** वह है, जहां 'लिंग' एवं 'लिङ्गी', इन दोनों का प्रत्यक्ष हो चुका है, किन्तु अब दोनों में से एक को देखकर दूसरे का अनुमान किया जाए ।

---

१. यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा मेघोन्नत्या 'भविष्यति वृष्टिः' इति । न्यायभाष्य १-१-५

२. शेषवत् तत्, यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते 'भूता बृष्टिः' इति । न्यायभाष्य १-१-५

३. सामान्यतोदृष्टम् व्रज्यापूर्वकमन्यत्रदृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य, तस्मादस्त्य प्रत्यक्षस्यादित्यस्य व्रज्येति । न्या. भा. १-१-५

उदाहरण के लिए धूम से अग्नि का अनुमान करना 'पूर्ववत्' कहलाएगा। शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं, जब सम्भाव्यमानों में से कुछ का प्रतिषेध कर देने पर, शेष में कहीं सम्भाव्यमान न होने से अवशिष्ट का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, शब्द के 'सत्' एवं 'अनित्य' होने से, उसे क्या माना जाए, द्रव्य, गुण अथवा कर्म। ऐसी स्थिति में यह कहना होगा कि शब्द द्रव्य नहीं है, क्योंकि यह एक द्रव्य में समवेत है। शब्द को 'कर्म' इसलिये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह शब्दान्तर का हेतु है। इस प्रकार द्रव्य, गुण एवं कर्म में से केवल 'गुण' के शेष रहने से, 'शब्द गुण है', यह अनुमान होता है। **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान वह होता है, जब 'लिङ्ग' एवं 'लिङ्गी' दोनों के ही सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु अर्थविशेष से, लिङ्ग के साधारण द्वारा 'लिङ्गी' का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिये, इच्छादि से आत्मा का ज्ञान होता है। इसका कारण यह है कि इच्छादि 'गुण' हैं तथा 'गुण' द्रव्य में रहते हैं। इस प्रकार इच्छादि जिस में रहते हैं, वही आत्मा है, यह अनुमान है।

स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान तथा पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान के इन उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त एक अन्य भेद प्रक्रिया के अनुसार केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी एवं अन्वयव्यतिरेकी, ये तीन भेद मिलते हैं जो व्याप्ति पर आश्रित होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अतएव यहां इनका निरूपण किया जा रहा है।

केवलान्वयी अनुमान— यह अनुमान केवलान्वयी इसलिये कहलाता है, क्योंकि इसमें केवल 'अन्वय' (तत्सत्वे तत् सत्त्वमन्वयः), की ही सत्ता रहती है। केवलान्वयी अनुमान के अन्तर्गत हेतु (धूम) तथा साध्य (अग्नि) के मध्य व्याप्तिज्ञान 'अन्वय' से ही होता है, किसी प्रतिषेध दृष्टान्त से नहीं। इसीलिये 'केवलान्वयी' अनुमान में 'केवल' शब्द को जोड़ा गया है। निम्नलिखित उदाहरण से यही तथ्य विशदीकृत होते हैं।

१. सकल ज्ञेय पदार्थ अभिधेय होते हैं, (प्रतिज्ञा)।

२. घट एक ज्ञेय पदार्थ है (हेतु)।

३. अतः घट अभिधेय है (निगमन)।

उपर्युक्त उदाहरण के अन्तर्गत 'अभिधेय' का अर्थ 'अभिधा' (संज्ञा अथवा नाम) के योग्य होना है । अर्थात् ऐसा पदार्थ जिसे नाम दिया जा सकता है । ऊपर दिये गए उदाहरण में प्रथम वाक्य व्यापक सत्तात्मक सिद्धान्त है, जिसमें 'अभिधेय', नामक विधेय, समस्त ज्ञेय पदार्थों के विषय में कथित है । वस्तुतः उद्देश्य के विषय में 'विधेय', का निषेध नहीं किया जा सकता, तथा यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञेय पदार्थ अभिधेय नहीं है । इसका कारण यह है कि ज्ञेय पदार्थ को 'अनभिधेय' कहने पर, एक प्रकार से उसे नाम देना ही पड़ेगा । इस प्रकार यहां अन्वयव्याप्ति नहीं माननी होगी ।

केवलव्यतिरेकी अनुमान — जहां हेतु का साध्य के साथ सम्बन्ध केवल निषेध्यात्मक रूप से होता है, वहां केवलव्यातिरेकी अनुमान होता है। केवलव्यतिरेकी अनुमान अन्वयव्यतिरेकी के ठीक विपरीत है । इस अन्वयव्याप्ति में साधन (धूम) की सत्ता से साध्य (अग्नि) की सत्ता निश्चित की जाती है । "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" किन्तु इसके विपरीत व्यतिरेकव्याप्ति में 'साध्य' (अग्नि) के अभाव से साधन (धूम) का अभाव बतलाया जाता है । यत्र अग्न्यभावः तत्र धूमाभावः) ।

उदाहरणार्थ—

१. अमुक जीवित शरीर सात्मक अर्थात् आत्मा से युक्त है । क्योंकि यह प्राणादिमान् अर्थात् प्राण एवं इन्द्रियादि से युक्त है ।

२. जो आत्मा से युक्त नहीं होता, उसमें प्राणादि भी नहीं होते ।

३. जैसे, घट-पटादि जड़ पदार्थ ।

४. यह-जीवित शरीर जड़ पदार्थों के समान नहीं है ।

५. अतएव जड़पदार्थों जैसा निर्जीव भी नहीं है ।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण के अन्तर्गत व्यतिरेकमुख से ही व्याप्ति की सिद्धि होती है, अन्वयमुख से नहीं । यदि अन्वयमुख से व्याप्तिसिद्धि का प्रयत्न किया जाएगा तो कहना होगा, जो जो प्राणादिमान् है, वह वह सात्मक है । किन्तु

जब इसका दृष्टान्त ढूंढा जाएगा, जैसा कि पञ्चावयववाक्य की प्रक्रिया है, तो कठिनाई होगी, क्योंकि प्रत्येक जीवित शरीर को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करने पर उसकी सात्मकता 'साध्य' होने के कारण संदिग्ध ही समझी जाएगी। इस सम्बन्ध में यहां यह निर्देश करना आवश्यक है कि दृष्टान्त सदा 'सिद्ध' ही हो सकता है, 'असिद्ध' नहीं, क्योंकि जो 'असिद्ध' है, उसकी सत्ता तो तब तक संदिग्ध ही है, जब तक वह सिद्ध न हो जाए इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि व्यतिरेक व्याप्ति का कार्य अन्वय व्याप्ति से नहीं चल सकता। अत: केवलव्यतिरेकी अनुमान में व्यतिरेक मुखेन व्याप्ति की सिद्धि की जाती है।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान— अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में व्याप्ति की सिद्धि अन्वय एवं व्यतिरेक मुखेन होती है। व्याप्ति, एक ओर हेतु तथा साध्य के बीच होती है और दूसरी ओर साध्य के अभाव एवं हेतु के अभाव के मध्य होती है। यहां यह निर्देश योग्य है कि जब 'अन्वय' के द्वारा 'व्याप्ति' की सिद्धि होती है, तो व्यापक वाक्य सत्तात्मक होता है। इस के विपरीत जब व्यतिरेक के द्वारा व्याप्ति की सिद्धि होती है, तो व्यापक वाक्य निषेधात्मक होता है। अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति का यह अन्तर द्रष्टव्य है कि अन्वय व्याप्ति का उद्देश्य तथा विधेय व्यतिरेक व्याप्ति में परिवर्तित हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्वयवाक्य का उद्देश्य व्यतिरेकव्याप्ति में विधेय बन जाता है। तथा विधेय उद्देश्य बन जाता है। उदाहरण के लिये, **अन्वयवाक्य** में (जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है) धूम अग्नि से व्याप्य है। ठीक दूसरे विपरीत, **व्यतिरेक** वाक्य में अग्न्यभाव धूमाभाव से व्याप्य है। जहां तक **अन्वय-व्यतिरेक** अनुमान की बात है, यह दोनों अनुमान प्रकारों से भिन्न है। इसमें एक विषय को दो प्रकार की व्याप्तियों से सिद्ध किया जाता है।

उदाहरणार्थ—

१. धूमवान् पदार्थ वह्निमान् होते हैं (प्रतिज्ञा)।

यह पर्वत धूमवान् है (हेतु)।

अतएव यह पर्वत वह्निमान् है (निगमन)।

२. वह्न्यभाववान् पदार्थ धूमवान नहीं होता (प्रतिज्ञा)

यह पर्वत धूमवान् है (हेतु)

अत: यह पर्वत वह्निमान् है। (निगमन)

यहां प्रथम उदाहरण अन्वयव्याप्ति का है, तथा दूसरा उदाहरण व्यतिरेक व्याप्ति का।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में हेतु के पांच रूप

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी के विपरीत, हेतु के पांच रूपों की उपपन्नता है।[१] ये पांच हेतु, पक्षधर्मता, सपक्ष में विद्यमानता , विपक्ष में अभाव, अबाधित विषयता तथा असत् प्रतिपक्षता हैं। उदाहरणार्थ धूम एवं अग्नि के दृष्टान्त में, हेतु की पञ्चरूपता इस प्रकार देखी जा सकती है।

१. धूम को पर्वत पर देखा जाता है। अत: पक्ष (पर्वत) का धर्म स्पष्ट है। यह पक्षधर्मता हुई।

२. महानस में धूम एवं अग्नि के साहचर्य नियम का प्रत्यक्ष किया है, अत: यह सपक्ष अर्थात् महानस में धूम-हेतु की, विद्यमानता 'सपक्ष सत्त्व' का उदाहरण है।

३. हेतु के तीसरे रूप, विपक्ष में अभाव के सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि विरुद्धपक्ष, सरोवर तथा कुल्या (नहर) में, धूम की 'अविच्छिन लेखा' कभी नहीं दिखाई पड़ती। अत: विपक्ष में उसकी अविद्यमानता (अभाव) स्पष्ट ही है।

४. पर्वत पर विद्यमान धूम अग्नि का ज्ञान कराता है तथा इस ज्ञान में किसी अन्य प्रमाण द्वारा बाधा नहीं उत्पन्न की जाती, अत: यह **अबाधित विषयत्व** का उदाहरण है।

---

१. यस्त्वन्योऽन्वयव्यतिरेकी हेतुः स सर्वः पञ्चरूपोपन्न एव सद्हेतुः। तर्कभाषा, अनुमाननिरूपणम्।

५. धूमवत्व हेतु, अग्नि का ही बोध कराता है, किसी अन्य पदार्थ का नहीं, अतः यह 'असत् प्रतिपक्षत्व' का उदाहरण है। 'असत् प्रतिपक्षत्व' का अर्थ है, जिसका कोई प्रतिपक्ष (विरोधी), नहीं है।[१]

इस प्रकार उपर्युक्त पांच हेतुओं की उपपन्नता, अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में नितान्त स्पष्ट है।

जैसा कि पहले भी सङ्केत किया गया है, केवलान्वयी एवं केवलव्यतिरेकी अनुमान में चार प्रकार के हेतुओं की ही उपपन्नता है, जैसा कि नीचे स्पष्ट किया जा रहा है।

पहले केवलान्वयी हेतु को लें। निदर्शनार्थ, घट अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे घट। इस उदाहरण में 'अभिद्येयत्व' रूप साध्य की सिद्धि के लिये 'प्रेमयत्व' रूप हेतु दिया गया है, जो केवलान्वयी है (यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्र तत्र अभिधेयत्वयम्) इसकी व्यतिरेकव्याप्ति नहीं बनती। इसका कारण यह है कि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें किसी का प्रमेयत्व एवं अभिध्येयत्वं न हो, जैसा कि व्यतिरेकव्याप्ति के लिये अपेक्षित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'केवलान्वयी' का 'विपक्ष में अविद्यमानता रूप' हेतु नहीं सिद्ध होता, क्योंकि उसका विपक्ष ही नहीं है।

इस प्रकार केवलान्वयी अनुमान में 'विपक्ष में अभाव अथवा अविद्यमानता' रूप हेतु नहीं बनता। केवल इतर चार ही हेतु बनते हैं।[२]

केवलव्यतिरकी, अनुमान में भी 'सपक्षसत्त्व' हेतु नहीं बनता, क्योंकि उसमें सपक्ष नहीं होता। उदाहरण के लिये, 'यत्र तत्र प्राणादिमत्वम् तत्र तत्र सात्मकत्वम्' (जहां जहां प्राणादिमत्व है, वहां वहां सात्मकता है) में जो 'प्राणादिमत्व' हेतु दिया गया है, वह व्यतिरेकव्याप्ति (यत्र यत्र प्राणादिमत्त्वाभावः तत्र तत्र सात्मकत्वाभावः,

१. असन् प्रतिपक्षो यस्य इति असत्प्रतिपक्ष धूमत्त्वं हेतुः। तर्कभाषा, अनुमानप्रकरणम्

२. केवलान्वयी चतूरूपोपन्न एव स्वसाध्यं साधयति।
तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति विपक्षाभावात्। त. भा. अनुमाननिरूपणम्।

यथा घटे:) के ही आधार पर है। अन्वयव्याप्ति (यत्र यत्र प्राणादिमत्त्वम् तत्र तत्र सात्मकत्वम्) के आधार पर नहीं बनती, क्योंकि ऐसा इसका कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। केवलव्यातिरेकी का सपक्ष ही नहीं है। इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान में 'सपक्षसत्त्व' अर्थात् 'सपक्ष में विद्यमानता' रूप हेतु न होने के कारण उपर्युक्त्य पांच हेतुओं में से चार हेतु ही चरितार्थ होते हैं।[१]

अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव दोष— हेतु एवं लक्षण में अव्याप्ति अतिव्याप्ति एवं असंभव दोष की सम्भावना रहती है, अत: ये विचारणीय हैं।

अव्याप्ति— दोष वहां होता है, जहां हेतु अथवा लक्षण अपने सूच्य को पूर्णतया व्याप्त नहीं करता (अ + व्याप्ति)। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति सम्मुखस्थ कपिला (लाल रंग की) गौ को देखकर कहता है कि 'यह गाय है', क्योंकि यह कपिल वर्ण की है, तो यह, 'कपिलत्व' दोष पूर्ण ही कहा जाएगा, क्योंकि ऐसा मानने पर श्यामा एवं श्वेत वर्णवाली गायों को गाय नहीं कहा जा सकेगा। अत: इस दोष को 'अव्याप्ति' दोष कहते हैं।

अतिव्याप्ति— दोष वहां होता है, जहां लक्षण अथवा हेतु, सूच्य अथवा अनुमेय अर्थ के अतिरिक्त अनभीष्ट अर्थ एवं वस्तु की सूचना देता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति में व्याप्ति का अतिक्रमण होता है। उदाहरणार्थ, यदि गाय का लक्षण यह किया जाए, कि जिसमें 'सास्नादिमत्त्व' है, वह गाय है, अथवा जिसके सींग हैं, वह गाय है, तो यह लक्षण एवं हेतु दोष पूर्ण होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर तो भैंस को भी गौ कहा जा सकेगा, क्योंकि भैंस भी सास्नादिमती एवं सींग वाली है। अत: यह **अतिव्याप्ति** दोष कहलाएगा।

असंभव दोष— तब होता है, जब व्याप्ति का अवसर ही नहीं बनता। उदाहरण के लिये, गाय का लक्षण यह करना कि 'गाय एक खुर (शफा) वाली है, तो यह असमीचीन एवं पूर्णतया दोषपूर्ण है, क्योंकि एक शफा वाली गाय नहीं होती सामान्यत: गाय के चार पैर होने के कारण उसके खुर भी चार होते हैं। इसी प्रकार

---

१. केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपन्न एव। तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति, सपक्षाभावात्। त.भा. अनुमानानिरूपणम्।

यदि सम्मुखीन **कडवा** (घोड़ी) को देखकर कहा जाए कि यह गाय है, क्योंकि इसके खुर हैं तो यह सर्वथा असंभव है। अतः उक्त उदाहरण व्याप्ति के 'असंभव दोष' का है। अतएव महाभाष्यकार ने "गौः" शब्द से सास्ना (गरदन के नीचे लटकी खाल) पूंछ, ककुद (थुहा), खुर एवं सींग वाले पदार्थों (जाति एवं व्यक्ति) के बोध के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है।[१]

हेत्वाभास— न्यायदर्शन के अन्तर्गत अनुमान की सिद्धि के लिये हेतु की महत्ता ऊपर स्पष्ट हो चुकी है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, हेतु के सद्रूप होने के लिए उसमें, पक्षसत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, असत्प्रतिपक्षत्व एवं अबाधित-विषयत्व का होना आवश्यक है। इसके विपरीत यदि किसी हेतु में दोष लक्षित होता है अर्थात् वह सद् हेतु नहीं होता तो उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं। इस प्रकार 'हेत्वाभास' में हेतु का आभास तो होता है, किन्तु वास्तविक रूप में वह हेतु नहीं होता। इसीलिये वात्स्यायन ने कहा है कि हेतु का लक्षण न घटने के कारण वस्तुतः जो अहेतु हो किन्तु हेतु के सदृश होने के कारण, जिसका हेतु के समान आभास होता हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं।[२]

हेत्वाभासों के नाम एवं क्रम के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। गोतम ने न्यायसूत्र के अन्तर्गत सव्यभिचार विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम तथा कालातीत, ये पांच प्रकार के 'हेत्वाभास' बतलाए हैं[३] किन्तु तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने, असिद्ध विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट इन पांच हेत्वाभासों का निर्देश किया है। एवञ्च तर्कसंग्रहकार अनं भट्ट ने तर्कसंग्रह के अन्तर्गत सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध तथा बाधित इन पांच हेत्वाभासों का निरूपण किया है।[४] इस प्रकार हेत्वाभासों के नाम एव क्रम के सम्बन्ध में मतभेद स्पष्ट दृष्टि गोचर

१. येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद- खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। महाभाष्य, पस्पशाह्निक, व्याकरण-प्रयोजनधिकरण, परिमल, दिल्ली १९९१

२. हेतुलक्षणाभावाद् हेतवो हेतुसामान्याद् हेतुवदाभासमानाः। न्यायभाष्य, १-२-४

३. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः। न्यायसूत्र १-२-४

४. असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक प्रकरणसम कालात्ययाचापदिष्टभेदात् पञ्चैव। तर्कभाषा ५०९०

होता है किन्तु केशव मिश्र के तीन विरुद्ध, प्रकरणसम तथा कालात्यापदिष्ट तथा तर्कसंग्रहकार अन्नं भट्ट के सव्यभिचार तथा विरुद्ध ये दो सर्वथा समान हैं । इसके अतिरिक्त केशवमिश्र द्वारा निर्दिष्ट अनैकान्तिक सव्यभिचार ही है ।[१]

१. सव्यभिचार अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास

सव्यभिचार और अनैकान्तिक एक ही हैं । अनैकान्तिक दो प्रकार का है । **एक साधारण अनैकान्तिक** तथा **दूसरा असाधारण अनैकान्तिक** है । पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष इन तीनों में रहने वाला, अतएव 'विपक्ष व्यावृतत्व धर्म से रहित, **साधारण अनैकान्तिक** है । उदाहरण के लिये शब्द नित्य है, प्रमेय होने के कारण, आकाश के समान । इस उदाहरण में प्रमेयत्व हेतु है, जो पक्ष (शब्द) सपक्ष (आकाश) तथा विपक्ष (घटादि) में समान रूप से वर्त्तमान है । इसके विपरीत 'सपक्ष' तथा 'विपक्ष' दोनों से व्यावृत अर्थात् दोनों में न रहकर जो केवल पक्ष में ही वर्त्तमान है । वह **असाधारण अनैकान्तिक** है । निदर्शनार्थ, पृथ्वी नित्य है, गन्धवत्त्व हेतु के होने से । यहां यह उल्लेखनीय है कि पृथ्वी के नित्यत्व का हेतु 'गन्धत्व' केवल 'पक्ष' (पृथिवी) में ही है, न वह 'सपक्ष' नित्य (आकाशादि) में है और न 'विपक्ष' अनित्य (जलादि) में ही है । अत: यह असाधारण अनैकान्तिक का उदाहरण है ।

सव्यभिचार-अनैकान्तिक हेत्वाभास में, सव्यभिचार एवं अनैकान्तिक शब्दों का अर्थ समझ लेना चाहिए । सव्यभिचार का अर्थ दोष युक्त हेतु है, जो हेत्वाभास में होता ही है तथा अनैकान्तिक का अर्थ, हेतु का ऐकान्तिक अर्थात् एकनिष्ठ न होना, है । जैसे कि उपर्युक्त साधारण अनैकान्तिक के उदाहरण में दूसरे विपरीत असाधारण अनैकान्तिक में शब्द नित्यत्व का प्रमेयत्व हेतु, पक्ष (शब्द) सपक्ष (आकाशादि) तथा विपक्ष (जलादि) निष्ठ है । इसीलिये यह (प्रमेयत्व) बहुनिष्ट होने से अनैकान्तिक है । असाधारण अनैकान्तिक केवल पक्ष (पृथ्वी) निष्ठ होने पर भी अनैकान्तिक है, यही उसकी असाधारणता है । इसके अतिरिक्त, साधारण अनैकान्तिक में, जहां सपक्ष तथा विपक्ष में हेतु के विद्यमान होने के कारण विद्यमानता

---

१. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः न्या. सू. १-२-५

दोष है, वहां, असाधारण अनैकान्तिक के अन्तर्गत, सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में हेतु की अविद्यमानता है। इस प्रकार यह अविद्यमानत्त्व दोष है।

२. विरुद्ध हेत्वाभास — विरुद्ध हेत्वाभास वह होता है, जब साध्य के विपरीत हेतु व्याप्त होता है। जैसे, शब्द नित्य है, कृतक अर्थात् जन्य होने से, आत्मा के समान। यहां कृतकत्व (जन्यत्व) हेतु, नित्यत्व (साध्य) के विरुद्ध, अनित्यत्व के साथ व्याप्त है, क्योंकि जो जन्य (कृतक) है, वह अनित्य है। अतएव यहां 'विरुद्धहेत्वाभास' है।

सव्यभिचार-अनैकान्तिक तथा विरुद्धहेत्वाभास का यह अवान्तर भेद द्रष्टव्य है कि सव्यभिचार हेतु जहां निश्चित को सिद्ध करने में असमर्थ रहता है, वहां विरुद्ध हेतु साध्य की विपरीत वस्तु को सिद्ध करता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

३. असिद्धहेत्वाभास— जहां हेतु की 'पक्ष' में विद्यमानता निश्चित नहीं होती, वहां 'असिद्धहेत्वाभास होता है। 'असिद्धहेत्वाभास' के तीन रूप हैं— आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध एवं व्याप्त्वासिद्ध। यहां इन तीनों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जा रहा है।

आश्रयासिद्ध— जहां हेतु का आश्रय पक्ष सर्वथा असिद्ध हो, वहां आश्रयासिद्धहेत्वाभास होता है जैसे आकाशकमल सुगन्धित है, कारण कि वह कमल है, जैसे सरोवर का कमल। इस उदाहरण में आकाशकमल, पक्ष है, क्योंकि उसमें सुगन्धि सिद्ध करनी है। परन्तु आकाशकमल का सर्वथा अभाव होने से 'कमल होना' (अरविन्दत्वात्) हेतु सर्वथा असिद्ध है। अतः सुगन्धि के आश्रय 'कमल' के सर्वथा असिद्ध होने पर उसमें सुगन्धि की सत्ता सिद्ध करने का अवसर ही नहीं उपस्थित होता।

स्वरूपासिद्ध— जहां 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास में आश्रय (पक्ष) सर्वथा असम्भव (असिद्ध) होता है, इसके विपरीत, 'स्वरूपासिद्ध' में हेतु का आश्रय तो सम्भव होता है, किन्तु आश्रय (पक्ष) में 'हेतु' की विद्यमानता असंभव (असिद्ध) होती है। उदाहरण के लिये यदि कहा जाए कि 'शब्द अनित्य है,' चाक्षुष होने के कारण

'जैसे घट अनित्य है' तो यह 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास होगा । इस उदाहरण में शब्द 'पक्ष' है तथा उसके अनित्यत्व की सिद्धि के लिये दिया गया हेतु, चाक्षुष होना (चाक्षुषत्वात्) सर्वथा असम्भव (असिद्ध) है, क्योंकि शब्द चाक्षुष कदापि नहीं होता । शब्द का तो 'श्रावण' प्रत्यक्ष होता है, न कि चाक्षुष प्रत्यक्ष ।

विरुद्धहेत्वाभास एवं स्वरूपासिद्ध का यह भेद द्रष्टव्य है कि विरुद्ध हेत्वाभास में साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती, जबकि 'स्वरूपासिद्ध' में साध्य के साथ व्याप्ति तो होती है, परन्तु वहां हेतु पक्ष में नहीं होता ।

व्याप्यत्वासिद्ध — व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास के दो रूप हैं, एक वह जहां साध्य और साधन की व्याप्ति ग्रहण में प्रमाणाभाव है ।[१] तथा दूसरा वह जहां हेतु में 'उपाधि' विद्यमान है । प्रथम व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है, 'सत् क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है' । जो सत् होता है, वह क्षणिक होता है, जैसे जलधर । इस उदाहरण में सत् रूप द्रव्यों की क्षणिकता सिद्ध करने के लिये उनका 'सत्' रूप होना ही हेतु के रूप में दिखाया गया है । किन्तु यहां यह वक्तव्य है कि 'जो सत् है, वह क्षणिक है' इस प्रकार की ग्रहण व्याप्ति में कोई प्रमाण नहीं है । जलधर का उदाहरण भी 'साध्य' ही है, 'सिद्ध नहीं,' एवञ्च उदाहरण 'सिद्ध' ही होता है, साध्य नहीं जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है ।

दूसरा व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास उपाधि सद्भाव (उपाधि की विद्यमानता) के कारण होता है । "उपाधिसद्भावात् ।" उदाहरण के लिये, यज्ञ में की गई हिंसा अधर्मोत्पादिका है, हिंसा होने के कारण, जिस प्रकार कि यज्ञ से बाहर की गई हिंसा अधर्म का कारण है । इस उदाहरण में अधर्म साधनत्व में हिंसात्व प्रयोजक नहीं है, किन्तु हिंसा का निषिद्धत्व प्रयोजक है । यह प्रयोजक ही उपाधि है । उपाधि का लक्षण इस प्रकार है । "साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः उपाधिः इत्युपाधि लक्षणम्" ।[२] अर्थात् साध्य का व्यापक होने पर भी जो साधन का अव्यापक हो,

---

१. व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् । त. भा. अनुमाननिरूपणम् ।

२. तर्कभाषा, अनुमाननिरूपणम् ।

वह उपाधि है। उपाधि का यह लक्षण निषिद्धत्व में पाया जाता है। निषिद्धत्व, साध्यरूप अधर्मसाधनत्व का व्यापक है, "यत्र यत्र अधर्म साधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वम् अपि"[१] अर्थात् जहां जहां अधर्मसाधनत्व है, वहां वहां निषिद्धत्व भी है। यह साध्य व्यापकत्व हुआ। इसी प्रकार, साधन भूत हिंसात्व का व्यापक निषिद्धत्व नहीं होता (अर्थात् जहां जहां हिंसात्व है, वहां वहां निषिद्धत्व भी है, यह आवश्यक नहीं, क्योंकि यज्ञीय पशु हिंसा के विदित होने से उसका निषेध नहीं है। यह साधानाव्यापकत्व का उदाहरण है। इस प्रकार 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वात्' उपाधि का लक्षण निषिद्धत्व में चरितार्थ होता है, जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है। अतः निषिद्धत्व उपाधि है। इस प्रकार निषिद्धत्व उपाधि के वर्तमान होने से निषिद्धत्व प्रयुक्त व्याप्ति के आश्रित रहने वाला हिंसात्व (हेतु) 'व्याप्यत्वासिद्ध' ही है। वस्तुतः निषिद्धत्व ही अधर्मजनकत्व का प्रयोजक है, वह निषिद्धत्व का 'अधर्मजनकत्व' धर्म, यहां हिंसात्व में प्रतीत होता है। अतः उप अर्थात् समीपवर्ती हिंसात्व में अपने धर्म का आधान करने के कारण 'निषिद्धत्व', उपाधि कहलाता है। इसीलिये 'उपाधि' की निम्नलिखित व्युत्पत्ति की गयी है।

"उप स्व समीपवर्तिनि स्वधर्ममादधाति, उपाधिः"

उपर्युक्त व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर ही केशवमिश्र ने "अन्य प्रयुक्त व्यप्त्युपजीविहिंसात्व" (अर्थात् निषिद्धत्व प्रयुक्त व्याप्ति के आश्रित रहने वाला हिंसात्व है) ऐसा लिखा है।

तात्पर्य यह है कि वैदिक धर्मानुयायी अधर्म का साधन निषेध को मानते हैं। यही 'निषेध' 'उपाधि' है। यह भी निर्देश योग्य है कि 'उपाधि' 'निषेध' अर्थात् शास्त्र द्वारा निषेध ही अधर्म साधन रूप साध्य के लिये सद् हेतु है। उसी के साथ अधर्म साधन की व्याप्ति बनती है। 'यत्र यत्र निषिद्धत्वं तत्र तत्र अधर्म साधनत्वम्'। इस प्रकार सद् हेतु को न प्रस्तुत करके व्याप्ति नियम के प्रतिकूल, किसी अन्य हेतु को प्रस्तुत करना ही उपाधि है।

---

१. त.भा. अनुमाननिरूपणम्।

प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए न्यायसूत्र में कहा गया है कि जिसको लेकर प्रकरण पर विचार किया जा रहा है, तथा वही प्रकरण के लिये प्रयुक्त हो, वह 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहलाता है।[१] उदाहरण के लिये, शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की उपलब्धि न होने से यह अनुमान का विषय है। यहाँ अनुपलभ्यमान नित्यधर्म का अनित्य भी देखा गया है, जैसे स्थाली (वटलोई पात्र) आदि। 'शब्द नित्य' है, अनित्य धर्म की उपलब्धि न होने से। इस उदाहरण में भी अनुपलभ्यमान अनित्यधर्मक नित्य देखा गया है, जैसा आकाशादि।

उपर्युक्त विषय (प्रकरणसम अथवा सत् प्रतिपक्ष) को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

प्रतिज्ञा— शब्द नित्य है।

हेतु — क्योंकि इसमें नित्यधर्म नहीं है। इस अनुमान में 'नित्यधर्म का न रहना' हेतु है। एतदनुसार यहां दूसरा हेतु भी कहा जा सकता है, जैसे —

प्रतिज्ञा— शब्द नित्य है।

हेतु— क्योंकि इसमें अनित्य धर्म नहीं है।

अथवा

प्रतिज्ञा — शब्द नित्य है।

हेतु — क्योंकि वह श्रवण का विषय है। अर्थात् सुनाई देने वाला है, जैसे शब्दत्व।

अथवा

प्रतिज्ञा — शब्द अनित्य है।

हेतु — क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट।

---

१. यस्मात् प्रकरणचिन्ता, स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः। न्या. सू. १-२-७

उपर्युक्त उदाहरणों में सभी हेतु समानबलशाली होकर, एक दूसरे के प्रतिपक्षी है। अत: यह अनुमान को सिद्ध करने में असमर्थ हैं। यही इनकी हेत्वाभासता है, अर्थात् ये समुचित हेतु नहीं है। अतएव इन्हें सत्प्रतिपक्ष (जिनका प्रतिपक्ष है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है) एवं 'प्रकरण सम' कहा गया है, क्योंकि इनमें 'प्रकरण' की समता है।

५. बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट— जिस हेतु के 'पक्ष' में किसी अन्य प्रबलतर प्रमाण से साध्य का अभाव निश्चित हो गया है वह 'बाधित' विषय या 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास कहलाता है। वात्स्यायन में 'कालात्ययापदिष्ट' को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिस अनुमान में, प्रयुज्यमान हेतु का एकदेश कालात्यय से युक्त हो, वह 'कालात्ययापदिष्ट' अर्थात् 'कालातीत' कहलाता है।[१] बाधित विषय हेत्वाभास को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है —

प्रतिज्ञा — अग्नि अनुष्ण है

हेतु — उत्पन्न होने के कारण, जिस प्रकार कि जल।

उपर्युक्त उदाहरण में अग्नि का अनुष्णत्व साध्य है, तथा इस साध्य का 'पक्ष' अर्थात् अग्नि में प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होना पाया जाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष में अग्नि उष्ण पायी जाती है। अत: यह 'बाधित विषय' का उदाहरण है। इस प्रकार इस उदाहरण के अन्तर्गत 'अग्नि का उत्पन्न होना' हेतु यथार्थ न होकर 'हेत्वाभास' है। 'बाधितविषय' में विषय का 'बाधित' विषय की 'कालात्ययापदिष्ट' के रूप के भी चरितार्थता देखी जाय।[२] जैसा कि पहले कालात्ययापदिष्ट की परिभाषा को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है, जिस अनुमान के अन्तर्गत प्रयुज्यमान हेतु का एक

---

१. कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थैकदेशोऽपदिश्यमानः स कालात्ययापदिष्टः 'कालातीतः इत्युच्यते।' न्या.भा. १.२.९

२. केशवमिश्र (तर्कभाषाकार) ने इसे स्पष्ट नहीं किया है। कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते, यह कहकर छोड़ दिया है। आज के समालोचक विद्वानों ने इसे उलझन भरा कहा है।

देश कालात्यय से युक्त हो, वह कालात्ययापदिष्ट 'कालातीत' कहलाता है। उदाहरणार्थ—

१. शब्द नित्य है। (प्रतिज्ञा)

२. संयोगव्यङ्ग्य (भेरी दण्ड संयोग), होने से (हेतु)

३. रूप के समान (दृष्टान्त)

इस प्रकार जैसे कि पहले या पश्चात् घट व्यक्ति में वर्तमान 'रूप' प्रदीप घट संयोग से व्यक्त होता है, उसी तरह निहित अव्यक्त शब्द 'मेरी दण्ड संयोग अथवा कुठार काष्ठ संयोग से व्यक्त होता है। किन्तु संयोग व्यंग्य होने से शब्द नित्य है में 'संयोग व्यंग्य' यह हेतु नहीं बनेगा क्योंकि इसमें कालात्ययापदेश काल का बीत जाना है। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि संयोग व्यंग्य के अन्तर्गत व्यंग्य (घट रूप) की अभिव्यक्ति व्यंजक संयोग के काल को अतिक्रान्त नहीं करती। इसी के स्पष्टीकरणार्थ कहा जाएगा कि घट प्रदीप संयोग (घड़े और दीपक का संयोग) होने पर घट के रूप की अभिव्यक्ति होती है, संयोग की निवृत्ति होने पर नहीं। परन्तु हेतुवाक्यावयव में 'मेरी दण्डसंयोग' का जो हेतु है, वह यथार्थ नहीं है, अत: यह हेत्वाभास है। इसका कारण यह है कि मेरी (नगाड़ा) और दण्ड (डन्डा या डंका का जब संयोग होता है अर्थात् जब व्यक्ति नगाड़े पर डंका मारता है तो उसके (संयोग के) पश्चात् ही दूरस्थ शब्द गुंजार से बहुत देर तक सुनाई देता है। इस प्रकार शब्द की यह अभिव्यक्ति संयोग काल को अतिक्रान्त कर जाती है। अत: उपर्युक्त उदाहरण में 'घटरूप' के समान शब्द की ध्वनि संयोग से उत्पन्न नहीं कही जा सकती। अत: 'शब्द नित्यत्व' का उदाहरण कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास का उदाहरण है। इससे इस सिद्धान्त की भी पुष्टि होती है कि कारणाभाव से कार्याभाव होता है।[१] क्योंकि जब शब्द नित्यत्व में 'मेरी दण्ड' संयोग रूप कारण का अभाव है, तो कार्य (साध्य) साध्यरूप शब्दनित्यत्व का भी अभाव है। इस प्रकार उदाहरण सादृश्य न होने के कारण मेरी दण्ड संयोग अथवा कुठार काष्ठ संयोग

१. कस्मात् कारणाभावाद् भवति कार्याभाव इति। न्यायभाष्य १-२-९

हेतु साध्य (शब्द नित्यत्व) का साधक नहीं बन सकता। इसलिए इसे हेत्वाभास कहा गया है।

उपमान प्रमाण — जैसी गौ है, वैसी ही नील गाय है, इस अतिदेशवाक्य के अर्थ के स्मरण के साथ गवय (नील गाय) का ज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है।[१] उदाहरण के लिये नील गाय को न जानने वाला नागरिक किसी वनवासी से जैसी गाय होती है, वैसा ही गवय होता है, यह वाक्य सुनकर वन में जाकर इस वाक्यार्थ का स्मरण करते हुए जब गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड को देखता है, तब उक्त वाक्यार्थ के स्मरण के साथ उस गोसादृश्य विशिष्ट पिण्ड का ज्ञान उपमिति (सादृश्य) का कारण होने से 'उपमान' प्रमाण कहलाता है। उदयनाचार्य ने उपमान को संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध बोध के लिये आवश्यक माना है। उक्त उदाहरण में गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड संज्ञी है, तथा गवय यह संज्ञा है। इस संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान उपमान प्रमाण के द्वारा होता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा असाध्य प्रभा का कारण होने से उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु वैशेषिक[२] सांख्य तथा योग दर्शन के अन्तर्गत उपमान को पृथक प्रमाण नहीं माना गया है। सांख्यतत्वकौमुदीकार वाचस्पतिमिश्र ने उपमान के तीन पक्ष दिखा कर उसका अन्तर्भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्दप्रमाण ही कर लिया है।[३] यहां यह कथन समीचीन होगा कि 'गवय गोसदृश है इस अंश में शब्द की' स्मृति एवं अनुमान की सत्ता का अनुभव किया जाता है, किन्तु गवय पद का वाच्य, यही पशु है, यह बोध उपमान प्रमाण के द्वारा ही सम्भव है। अतः उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही अभीष्ट एवं श्रेयस्कर है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, वैशेषिक, सांख्य तथा योग के अतिरिक्त चार्वाक् भी उपमान को प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार

---

१. अतिदेशवाक्यवि स्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्। त. भा. उपमाननिरूपण।

२. देखिये. वै. सू. ९-२-५

३. सांख्यतत्वकौमुदी ५वीं कारिका।

करते। बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग[१] भी उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण न स्वीकार इसे प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही मानते हैं। नैयायिक भासर्वज्ञ ने उपमान को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार जैन दर्शन के अन्तर्गत भी उपमान को प्रमाण के रूप में न स्वीकार कर इसे प्रत्यभिज्ञामात्र माना गया है।[२] परन्तु मीमांसा[३] तथा वेदान्त[४] उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण ही मानते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है उपमान को अलग प्रमाण मानना ही समुचित है।

शब्द प्रमाण — आप्तोपदेश को शब्द कहते हैं।[५] साक्षात् कृतधर्मा अर्थात् जिसने सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर अर्थ का निश्चय कर लिया हो, ऐसा यथार्थ अर्थ को उपदेश करने की इच्छा से प्रवृत्त पुरुष 'आप्त' कहलाता है।[६] शब्द का दूसरा लक्षण आप्तवाक्यं शब्दः[७] है। इसमें 'आप्त' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। जहां तक वाक्य के अर्थ की बात है आकांक्षा अर्थप्रतिपादन द्वारा अन्य पदों अथवा अन्य अर्थों के विषयों में श्रोता की आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले तथा प्रतीयमान अर्थात् स्पष्ट रूप से परस्पर अन्वययोग्य अर्थ के प्रतिपादक सन्निधि युक्त पदों का समूह वाक्य, कहलाता है। इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि (आसत्ति) से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह क्या है, तो वर्ण समूह को पद कहा गया है। न्याय दर्शन के अनुसार 'समूह' का अर्थ एक ज्ञान का विषय होना है।[८] अतः क्रमिक तथा क्षणिक (आशुतर विनाशी) अनेक वर्णों का एक साथ अनुभव असम्भव होने से पूर्व पूर्व वर्णों का अनुभव करके अन्तिम वर्ण के श्रवण काल में पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभव से जनित, संस्कार सहकृत

---

१. न्याय वार्तिकक, १-१-९
२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ.९७-१००
३. शास्त्रदीपिका प.७४-७६
४. वेदान्त परिभाषा, ३ परिच्छेद
५. आप्तोपदेशः शब्दः। न्या.सू. १-१-७
६. साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तथा प्रवर्तत इत्याप्तः। न्याय. भा. १-१-६
७. आप्तवाक्यं शब्दः। त. भा. शब्दनिरूपणम्।
८. समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः। त. भा. शब्दनिरूपणम्।

पदव्युत्पादन समय ग्रह से अनुग्रहीत, अन्त्यवर्ण सम्बद्ध श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञा के समान, सहकारी संस्कार के प्राबल्य से सत् (अन्तिमवर्ण) तथा असत् (पूर्ववर्णों) का अवगाहन करने वाले पद की प्रतीति होती है । प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष सोऽयं देवदत्तः = यह ही वही देवदत्त है, में अतीत पूर्वावस्था जो 'सः' = वह पद से सूचित है । स्फुरित अर्थात् प्रतीत होती है । इसी प्रकार सदसत् रूप अनेक वर्णों की प्रतीति भी एक साथ सम्भव है । उस पदप्रतीति के अनन्तर उसी क्रम से पूर्व पूर्व पदानुभवजनित संस्कार सहकृत एवं पदार्थबोध से अनुगृहीत अन्यपद विषयक श्रोत्रेन्द्रिय से सदसत् अनेक पदों को ग्रहण करने वाली पदसमूहात्मक वाक्य की प्रतीति होती है । इस प्रकार 'पद' के लक्षण के साथ पदानां समूहो वाक्यम् के अनुरूप वाक्य के अर्थ को सुस्पष्ट किया गया है । यही वाक्य आप्त पुरुष के द्वारा प्रयुक्त होने पर 'शब्द' प्रमाण कहलाता है, तथा इसी का फल वाक्यार्थज्ञान है । शब्द प्रमाण लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार का है । लौकिक सिद्धपुरुष का 'शब्द' ही प्रमाण होता है, जबकि समस्त वैदिक वाक्य अलौकिक प्रमाण है । यहां यह निर्देश करने योग्य है कि जहां वैदिकों के लिये वेद वाक्य प्रमाण है,वहां बौद्धों के लिये पालित्रिपिटकवर्ती बुद्धवचन तथा जैन धर्मानुयायियों के लिये जैनागम (अर्धमागधी में लिखित अंग) आप्त वाक्य के रूप में 'शुद्धेय' भाव के स्वीकार्य है ।

उपर्युक्त प्रकार से न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द, इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है।

अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव तथा ऐतिह्य

मीमांसा तथा वेदान्त में अर्थापत्ति को भी प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है, किन्तु नैयायिकों ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं समझी है । नैयायिक के अनुसार "अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर, उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना" अर्थापत्ति है ।[१] निदर्शनार्थ, हृष्ट पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता (पीनो

१. अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् 'अर्थापत्तिः', त. भा. अर्थापत्तिनिरूपणम् ।

देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते, इस वाक्य के अनुसार देवदत्त का हृष्टपुष्टत्व देखकर या सुनकर, यह अनुमान लगाना कि वह रात्रि में भोजन करता है, अर्थापत्ति है। क्योंकि भोजन किये बिना शरीर पुष्ट नहीं हो सकता, अतएव दिन में भोजन न करने वाले पुष्ट देवदत्त के सम्बन्ध में अर्थापत्ति द्वारा उसके रात्रि भोजन का अनुमान किया जाता है। अर्थापत्ति के दो भेद हैं, दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त्य उदाहरण में देवदत्त को पुष्ट देखकर यह अनुमान लगाना कि वह रात्रि में भोजन करता है, **दृष्टार्थापत्ति** है। किन्तु देवदत्त के पुष्टत्व के सम्बन्ध में सुनकर देवदत्त के रात्रि भोजन के सम्बन्ध में अनुमान करना **श्रुतार्थापत्ति** है।

इस प्रकार **अर्थापत्ति** को स्वतंत्र प्रमाण न स्वीकार कर उसका कार्य व्यतिरेकी अनुमान से ही चलाया जा सकता है।

अर्थापत्ति के अन्तर्गत व्यतिरेकी अनुमान की **पञ्चावयव** प्रक्रिया इस प्रकार है—

१. देव दत्त रात्रि में भोजन करता है। **(प्रतिज्ञा)**

२. कारण कि दिन में भोजन न करने पर भी पुष्ट शरीर वाला है। **(व्यतिरेकमुखी हेतु)**

३. जिस प्रकार कि उपवास रखने वाला तपस्वी मोटा नहीं होता। **(दृष्टान्त)**

४. यह ऐसे तपस्वी से विपरीत है। **(उपनय)**

५. अतः यह (देवदत्त) उपवासी नहीं है। यह रात में अवश्य भोजन करता है। **(निगमन)**

अभाव—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, वेदान्ती **अभाव** को प्रमाण नहीं स्वीकार करते। वेदान्तियों का कथन है कि घटाभाव एवं पटाभाव के साथ इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध न होने से प्रत्यक्ष रूप से अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः अभाव या अनुपलब्धि को **प्रमाण** मानना अवश्यंभावी है। परन्तु नैयायिक अभाव को पृथक् प्रमाण न मानकर उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही करते हैं।

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी का कथन है कि 'अभाव' को प्रमाण मानना आवश्यक है, क्योंकि 'अभाव' का ग्रहण 'अभाव' या **'अनुपलब्धि'** प्रमाण को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है। क्योंकि घटादि की अनुपलब्धि से घटादि के अभाव का ग्रहण होता है। किन्तु इस सम्बन्ध में नैयायिकों का समाधान है कि यह कहना उचित नहीं है कि यदि स्थान विशेष में घट होता तो भूतल के समान उसका प्रत्यक्ष होता। इस प्रकार के तर्क से सहकृत अनुपलब्धियुक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अभाव का ग्रहण होने से अभाव के ग्रहण के लिये, पृथक् अभाव अथवा अनुपलब्धि प्रमाण मानना अपेक्षित नहीं है।[१]

सांख्यमत— न्यायदर्शन के समान सांख्य दर्शन में भी अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत किया गया है। परन्तु सांख्य की अन्तर्भाव पद्धति न्याय से भिन्न है। सांख्यदर्शन के अनुसार भूतल के स्वरूप में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। सांख्यमतनुसार कभी भूतल घटयुक्त होता है, तथा कभी घट के न रहने पर भूतल मात्र शेष रहता है। इसी घटरहित भूतल को **'घटाभाव भूतलम्'** कहा जाता है। इस प्रकार घटाभाव भी भूतल का स्वरूप विशेष ही है। भूतल का ग्रहण इन्द्रिय (चक्षु) से होता है। इसलिये उसका **कैवल्य** रूप भेद भी जिसे घटाभाववद् भूतलम् कहा जाता है, प्रत्यक्ष ही है यह प्रत्यक्ष का कैवल्य भेद इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें केवल भूतल का ही प्रत्यक्ष होता है। अत: सांख्य दर्शन में भी अभाव प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत है। वैशेषिक दर्शन में भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही प्रमाण माने गए हैं, एवं अभाव का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत किया गया है।[२]

ऐतिह्य— ऐतिह्य को नैयायिकों ने शब्द प्रमाण के अन्तर्गत अन्तर्भूत माना है। ऐतिह्य एक प्रकार से आप्त वाक्य ही है। पौराणिकों ने ऐतिह्य को स्वतंत्र प्रमाण माना है।

---

१. नैतत् यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत्, इत्यादितर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात्। त. भा. अभावनिरूपराम्।

२. अभावोऽप्यनुमानमेव। यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्। एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्। प्रशस्त पादभाष्य पृ. १११।

सम्भव — अविनाभावी अर्थ की सत्ता के ग्रहण से अन्य की सत्ता का ग्रहण, सम्भव कहलाता है । इस सम्बन्ध में न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि द्रोण (परिमाण विशेष) के ग्रहण से आढक की सत्ता का ग्रहण होता है ।[१] अत: संम्भव को पृथक प्रमाण मानने की अपेक्षा नहीं है । परन्तु पौराणिकों ने सम्भव को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है ।

प्रामाण्यवाद — प्रमाण्य (प्रमाण + ष्यञ्) का अर्थ 'प्रमाण होना' अथवा प्रमाण पर आश्रित होना है । प्रामाण्यवाद का अर्थ प्रामाण्य सम्बन्धी सिद्धान्त है । प्रामाण्य स्वत: है अथवा 'परत:' इस सम्बन्ध में भारतीयदर्शन के अन्तर्गत न्यूनाधिक रूप से अनेकश: विचार किया गया है । जहां मीमांसक स्वत: प्रामाण्यवाद के समर्थक हैं, वहां नैयायिक परत: प्रामाण्यवादी हैं । प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक मतों का निर्देश करने से पूर्व मीमांसक के स्वत: प्रामाण्यवाद एवं नैयायिक के परत: प्रामाण्यवाद का निरूपण आवश्यक है ।

स्वत: प्रामाण्यवाद — स्वत: प्रामाण्यवाद मीमांसक का अभिमत है यदि हम 'स्वत: प्रमाण' के अर्थ के सम्बन्ध में विचार करें तो कहना होगा कि ज्ञान की ग्राहक सामग्री के अतिरिक्त सामग्री प्रामाण्य के ग्रहण के लिये जहां अपेक्षित नहीं होती तो वह 'स्वत: प्रमाण' कहलाता है ।[२]

दूसरे शब्दों में, इस प्रकार कहा जाएगा कि जहां ज्ञान और उसके प्रामाण्य का ग्रहण एक ही सामग्री से होता है, वहां स्वत: प्रमाण होता है । इस प्रकार मीमांसक के अनुसार ज्ञान और उसके प्रामाण्य दोनों की ग्राहक एक ही सामग्री ज्ञातताऽन्यथा नुपपत्तिप्रसूताअर्थापत्ति: है । यहां 'ज्ञातताऽन्यथानुपपत्ति प्रसूता अर्थापत्ति' को समझ लेना चाहिए । मीमांसक का अभिप्राय है कि 'अयं घट:' यह घट है, इस ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' धर्म अयं घट: इस ज्ञान से पूर्व नहीं था अपितु यह 'अयं घट:' इस ज्ञान

---

१. सम्भवो नाम अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम्, यथा द्रोणस्य सत्ता ग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम्, आढकस्य सत्ताग्रहणात् प्रस्थस्येति । वात्स्यायन भाष्य, २-१-१२

२. ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वंमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य । त. भा. प्रामाण्यवाद: ।

—

से जन्य है । अतएव 'यह घट' है यह ज्ञान **ज्ञातता** का कारण ज्ञान है । इस प्रकार घट ग्रहण की प्रवृत्ति के पूर्व ही ज्ञातता रूप कार्य की अन्यथा अर्थात् ज्ञान रूप कारण के बिना, अनुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होने पर, उसमें रहने वाले प्रमाण्य का भी उसी से ग्रहण हो जाता है । इसके पश्चात् पुरुष घट ग्रहण के लिये प्रवृत्त होता है । इस प्रकार ऐसा नहीं है[१] कि पहले केवल ज्ञान गृहीत होता है और उसके बाद प्रवृत्ति के उत्तरकाल में फल को देख कर ज्ञान के प्रमाण्य का निश्चय होता है ।[२] यही मीमांसक का स्वतः प्रामाण्यवाद है ।

मीमांसक ज्ञान के अप्रामाण्य को परतः मानता है । जब व्यक्ति का पूर्वज्ञान किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा भ्रान्त सिद्ध हो जाता है तो वह व्यक्ति पूर्वज्ञान के दोषी एवं मिथ्या होने का अनुमान करता है । उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति जल ग्रहण करने के लिये जलाशय की ओर प्रवृत्त होता है, किन्तु जलाशय के पास जाकर उसे जल नहीं मिलता तो उसका पूर्वज्ञान अनुमान द्वारा मिथ्या सिद्ध हो जाता है । यही मीमांसक का **परतः अप्रामाण्य** है । क्योंकि व्यक्ति जब सरोवर के पास जाकर जलाभावयुक्त सरोवर का (घटाभाववद्भूतल के समानं) ज्ञान प्राप्त करता है, तो इस ज्ञान से उसका पूर्वज्ञान (सरोवर में जल का ज्ञान) मिथ्या सिद्ध हो जाता है ।

परतः प्रामाण्यवाद — परतः प्रामाण्यवाद का समर्थक नैयायिक है । जहां मीमांसक ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञान की ग्राहक सामग्री को ही मानता है, किसी अन्य को नहीं, और यही उसके प्रामाण्य का स्वतस्त्व है, वहां नैयायिक ज्ञान का परतः प्रामाण्य सिद्ध करते हुए कहता है कि परतः प्रामाण्यवाद में ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री[३] पृथक् पृथक् है । ज्ञान ग्राहक सामग्री अनुव्यवसाय है । किन्तु

---

१. इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि अयंघटः ज्ञान के बिना ज्ञातता अनुपन्न है । अतः अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण मानना होगा तथा उसी अर्थापत्ति से ज्ञान का प्रामाण्य भी गृहीत होगा ।

२. तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञातताऽ यथार्थानुपपत्ति प्रसूतयाऽर्थापत्यया ज्ञान गृहीते ज्ञानगतं प्रमाण्य मव्यर्था पत्यैव गृह्यते । ततःपुरुःप्रवर्तते । न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते ततःप्रवृत्युत्तर काले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते । त. भा. प्रामाण्यवादः

३. ज्ञान के ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं ।

ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की ग्राहक सामग्री प्रवृत्ति का साफल्य या वैफल्य मूलक अनुमान है । उदाहरण के लिये पहिले प्रमाण से घटादि पदार्थों का ज्ञान होता है, तत् पश्चात् उनके ग्रहण के लिये मनुष्य प्रवृत्त होता है । यदि मनुष्य की प्रवृत्ति सफल हो जाती है अर्थात् वह सम्भावित स्थान पर घटादि की प्राप्ति कर लेता है, तो वह अपने प्रवृत्ति पूर्ववर्ती घटादि ज्ञान को यथार्थ समझ लेता है । यह ज्ञान का परत प्रामाण्य है । किन्तु यदि उक्त प्रवृत्ति विफल हो जाती है, अर्थात् उसे घटादि की सम्भावित स्थान पर उपलब्धि नहीं होती तो यह ज्ञान के परतः प्रामाण्य की स्थिति है । घटादि ज्ञान के पश्चात् घटादि के ग्रहण की प्रवृत्ति से लेकर ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के निश्चय तक की अवस्था 'अभ्यास दशा' कहलाती है । अभ्यास दशा का उपर्युक्त ज्ञान 'अभ्यास' दशापन्न ज्ञान कहलाता है, इसके अतिरिक्त अनभ्यासदशापन्न ज्ञान भी है । जहां ज्ञान होने के पश्चात्, प्रवृत्ति से पूर्व ही, उसके प्रामाण्य का ग्रहण होता है । वह अनाभ्यास दशा का ज्ञानी है । यहां यह तथ्य विशेषरूप से विचारणीय है कि जहां 'अभ्यासदशापन्न ज्ञान प्रामाण्य' में 'समर्थ प्रवृत्ति जनकता' हेतु है, वहां अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में 'समर्थप्रवृत्ति जनक ज्ञान जातीयता', हेतु है । क्योंकि इस दशा में ज्ञान प्रामाणण्य का ग्रहण प्रवृत्ति से पूर्व ही होजाता है ।

परतः प्रामाण्यवाद के प्रसङ्ग मे यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का निर्णय तो प्रवृत्ति की सफलता एवं विफलता पर निर्भर करता है, किन्तु ज्ञान का ग्रहण **'अनुव्यवसाय'** से होता है । न्याय मत में 'ज्ञान' के ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं । उदाहरणार्थ 'अयं घटः' यह घट है यह ज्ञान घट से उत्पन्न होता है, अतः इसे घटविषयक ज्ञान कहते हैं । इसे प्रथम ज्ञान ही व्यवसायात्मक ज्ञान है । इसे **व्यवसायात्मक ज्ञान** इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह निश्चयात्मक ज्ञान है । इस ज्ञान के पश्चात् जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि 'मुझे घट का ज्ञान है' या 'मैं घटज्ञानवान् हूं' (घटज्ञानवानहम्) । यहां यह स्पष्ट है कि इस द्वितीय ज्ञान का विषय घट न होकर घट ज्ञान है । इस प्रकार इस ज्ञान विषयक ज्ञान को ही 'अनुव्यसाय' कहते हैं ।

स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद (तुलना)

स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक के अनुसार 'ज्ञातता' की उत्पत्ति 'अयं घटः' (यह घट है), इस ज्ञान से होती है। उसी प्रकार न्याय मत में भी 'अनुव्यवसाय' की उत्पत्ति 'अयंघटः' इस ज्ञान से होती है। इन दोनों का यह अन्तर द्रष्टव्य है कि मीमांसक की 'ज्ञातता' घट में रहने वाला धर्म है, जबकि नैयायिक का 'अनुव्यसाय' घट में नहीं, अपितु आत्मा में रहने वाला धर्म है। मीमांसक एवं नैयायिक का यह मतान्तर भी उल्लेखनीय है कि मीमांसक 'अयं घटः' से घट में ज्ञातता धर्म की उत्पत्ति मानकर, उसी के आधार पर, विषय नियम का प्रतिपादन करते हैं, तथा उसी के आधार पर **'ज्ञाततान्यथातुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति'** से ज्ञान एवं प्रामाण्य का ग्रहण स्वीकार करते हुए **'स्वतः प्रामाण्यवाद'** की प्रतिष्ठापना करते हैं। इसके विपरीत नैयायिक विषय नियम को स्वाभाविक मानकर 'ज्ञातता' का निराकरण करते हुए, ज्ञान का ग्रहण, अनुव्यवसाय से तथा प्रामाण्य का ग्रहण 'प्रवृत्ति साफल्य मूलक' अनुमान से मानकर, परतः प्रामाण्यवाद का समर्थन करते हैं, जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

नैयायिक द्वारा स्वतः प्रामाण्यवाद का खंडन

स्वतः प्रामाण्यवाद सिद्धान्त के समर्थक मीमांसक के सिद्धान्त का प्राण, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, ज्ञातता है, जो परतः प्रामाण्यवादी नैयायिक को स्वीकार नहीं है। नैयायिक का कथन है कि ज्ञातता की 'अन्यथाऽनुपपत्ति' से प्रसूत अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है, यह मत मान्य नहीं है। मीमांसक के मत का उल्लेख करते हुए, नैयायिक का कथन है कि मीमांसक के सिद्धान्त का यह आशय है कि घटादिविषयक ज्ञान के होने पर, 'मैंने यह घड़ा जान लिया' (मया ज्ञातोऽयं घटः) इस प्रकार घट की ज्ञातता (ज्ञान होने) की प्रतीति होती है। इसके पश्चात् ज्ञान के होने पर, घट में ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति का अनुमान होता है। यहां यह वक्तव्य है कि ज्ञातता धर्म के ज्ञान से पहले न होने के कारण तथा ज्ञान पश्चात् उत्पन्न होने से यह सिद्ध होता है कि वह धर्म अन्वय व्यतिरेक के ज्ञान से उत्पन्न होता है। इस प्रकार मीमांसक के पक्ष का निष्कर्ष यह है कि ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता

नामक धर्म ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य असिद्ध ही है । अतः ज्ञातता द्वारा अर्थापत्ति से अपने कारण ज्ञान का आक्षेप किया जाता है ।[१]

मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद के प्रतिपादक उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए, नैयायिक का कथन है कि ज्ञानविषयता के अतिरिक्त ज्ञातता का सर्वथा अभाव ही कहा जाएगा ।

नैयायिक द्वारा तर्कित ज्ञानविषयता के सम्बन्ध में मीमांसक का तर्क है कि ज्ञानजन्य ज्ञातता का आधार होना ही घट का ज्ञानविषयत्व कहा जाएगा । इस प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' धर्म की उत्पत्ति होती है, अतएव घट ही उसका विषय होता है, अन्य कोई वस्तु नहीं । अतः मीमांसक के मतानुसार विषयत्व की ज्ञातता के विना उपपत्ति न होने से अर्थापत्ति द्वारा ज्ञातता सिद्ध होती है ।

नैयायिक ने मीमांसक के उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए कहा है कि विषयविषयिभाव के स्वाभाविक होने से ज्ञातता द्वारा घटादि की विषयता सिद्ध करना अनपेक्षित एवं असमीचीन है । अर्थ और ज्ञान (जैसे, घट तथा घटज्ञान) का स्वाभाविक सम्बन्ध होने से, इनका विषयविषयिभाव स्वाभाविक है । ज्ञातता के स्वीकार करने पर एक आपत्ति यह है, क्योंकि ज्ञातता भी अपने ज्ञान का विषय होती है, इसलिये उसमें दूसरी ज्ञातता स्वीकार करनी होगी तथा इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा । किन्तु यदि अपने पक्ष की रक्षा के लिये मीमांसक दूसरी ज्ञातता को स्वीकार किए विना, स्वभावतः ही ज्ञातता की विषयता को मान ले तो फिर घटादि के विषय ज्ञान के लिये भी ज्ञातता की क्या अपेक्षा है, वह भी स्वभावतः हो सकता है । इस प्रकार नैयायिक का मत है कि मीमांसक द्वारा ज्ञातता का प्रतिपादन सर्वथा अनावश्यक एवं तर्कापुष्ट है ।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र का तर्क है कि ज्ञातता को स्वीकार करने पर भी स्वतः प्रामाण्यवाद की सिद्धि नहीं होती । क्योंकि ज्ञातता को स्वीकार करने पर भी

---

१. ज्ञानविषयतातिरिक्ताया ज्ञाततायाा अभावात् । त. भा. प्रामाण्यवादः ।

ज्ञान ग्राहक तथा प्रामाण्य ग्राहक सामग्री पृथक पृथक् स्वीकार करनी होगी। क्योंकि मीमांसक के अनुसार ज्ञान का ग्रहण तो ज्ञातता से ही होता है। यह ज्ञातता यथार्थ ज्ञान से भी उत्पन्न हो सकती है तथा अयथार्थ ज्ञान से भी। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता अपने कारण ज्ञान का अर्थापत्ति से बोध कराएगी। यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त दोनों प्रकार की ज्ञातता प्रामाण्य का ग्रहण नहीं करा सकती। प्रामाण्य का ग्रहण तो उक्त दोनों ज्ञातताओं में से, **यथार्थ ज्ञान** से उत्पन्न ज्ञातता ही करा सकती है। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान ग्राहक एवं प्रामाण्य ग्राहक सामग्री में भेद होने के कारण, यदि ज्ञातता को स्वीकार भी कर लिया जाए तो स्वत: प्रामाण्य की सिद्धि नहीं होती।

परत: प्रामाण्यवादी नैयायिक का तर्क है कि यदि यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता विशेष से ज्ञान तथा प्रामाण्य का ग्रहण, दोनों को साथ-साथ मान भी लिया जाए तो अप्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी, अयथार्थ ज्ञान अथवा भ्रमज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता विशेष से ज्ञान तथा अप्रामाण्य का ग्रहण भी साथ ही मानना होगा। अत: मीमांसक को अप्रामाण्य को भी स्वत: ही मानना चाहिए, नाकि परत:। इस प्रकार नैयायिक का तर्क है कि मीमांसक को या तो प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों को स्वत: मानना चाहिए अथवा दोनों को ही परत:। किन्तु यह मीमांसक को कदापि स्वीकार नहीं है। अत: नैयायिक प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों को ही परत: मानता है।

किन्तु अप्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी किसी ज्ञातताविशेष से ज्ञान तथा अप्रामाण्य के एक साथ ग्रहण होने पर भी यदि मीमांसक को अप्रामाण्य का परत: मानना ही अभीष्ट है, तो प्रामाण्य को भी परत: ही स्वीकार करना चाहिए। जैसा, कि पहिले भी संकेत किया जा चुका है, 'परत:' का अर्थ, ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री है। परत: प्रामाण्यवाद का स्वरूपनिरूपण करते हुए यह कहा जा चुका है कि ज्ञान का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' से होता है, तथा प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति साफल्य मूलक अनुमान से सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ जैसा कि पहिले भी कहा गया है कि किसी जलाशय में, जलज्ञान के पश्चात् जलाभिलाषी की प्रवृत्ति दो प्रकार की सम्भव है, एक सफला तथा दूसरी विफला। सफल प्रवृत्ति समर्थ कही जाती है, क्योंकि

उस प्रवृत्ति से उस ज्ञान का याथार्थ्य प्रामाण्य) अनुमित होता है। इस अनुमान की प्रक्रिया एवं अनुमानवाक्य का प्रयोग इस प्रकार होगा—

१. संदिग्ध जलज्ञान सफल प्रवृत्ति का जनक होने से प्रमाण है।

२. जो ज्ञान सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता, वह प्रमाण नहीं होता, जैसे प्रमाणाभास। यह केवलव्यतिरेकी अनुमान है।

उपर्युक्त उदाहरण के अन्तर्गत व्यतिरेकी अनुमान में सफलप्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला जलज्ञान **'पक्ष'** है तथा उसका प्रामाण्य साध्य है। किन्तु प्रमाकरणत्व स्मृति में व्यभिचारी होने से साध्य नहीं है। यहां यह उल्लेख योग्य है कि सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली स्मृति का भी याथार्थ्य रूप प्रामाण्य माना जाता है। किन्तु प्रमाकरणत्व रूप प्रामाण्य स्मृति का नहीं होता। अत: यहां प्रामाण्य का अर्थ याथार्थ्य करना चाहिए, प्रमाकरणत्व नहीं। यहां यह कहना अपेक्षित है कि उस प्रामाण्य का हेतु, सफलप्रवृत्ति जनकत्व है। यहां यह कथन समुचित होगा कि केवल व्यतिरेकी अनुमान से 'अभ्यासदशापन्न' ज्ञान के प्रामाण्य के सिद्ध होने पर तथा उसको दृष्टान्त मानकर, जल प्रवृत्ति के पूर्व भी 'तज्जातीयत्व' रूप लिङ्ग से अन्वय व्यतिरेकी अनुमान द्वारा 'अनभ्यासदशापन्न' ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुचित होता है। अत: नैयायिक के अनुसार परत: प्रामाण्यवाद को ही मानना समुचित होगा। इस प्रकार ज्ञानग्राहक सामग्री से प्रामाण्य का ग्रहण नैयायिक को स्वीकार नहीं है।[१]

अभ्यासदशापन्न एवं अनभ्यासदशापन्न कार्यकारणवाद

कार्यकारणवाद सिद्धान्त आरम्भ से ही भारतीय दर्शन का प्रमुख विषय रहा है। वैदिक दर्शन में कहीं **'सत्'** की मूल कारण के रूप में प्रतिष्ठा की गई है[२] तो कहीं **असत्**[३] की। इसके अतिरिक्त वैदिक दृष्टि के अनुसार मूल कारण को सत्

१. तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञान ग्राहकेणैव गृह्यते। त.भा.प्रामाण्यवाद:।

२. सदेव सोम्य इहमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छा.उ.६II.१.

३. असत: सज्जायते, छा.उ.६II.1.

एवं असत् से विलक्षण भी कहा गया है ।[१] यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उपर्युक्त कारण विषयक दृष्टि में परस्पर वैषम्य न होकर **समन्वय** ही है । कारण कि, सत् एवं असत् में विरोध इसलिए नहीं है कि सृष्टि के कारण के सूक्ष्मतम होने के कारण वह व्यावहारिक (दृश्यात्मक) रूप से असत् ही है, अर्थात् वह कदापि दृष्टिगोचर नहीं होता । जहां तक सृष्टि के मूल कारण के सत् एवं असत् से विलक्षण होने का प्रश्न है, वहां यह कहा जाएगा कि सूक्ष्म सत् न वर्त्तमानतया (व्यावहारिक दृष्टि से) सत् है, और न सर्वथा असत् अर्थात् शशश्रृंग अथवा वन्ध्यापुत्र के समान अलीक असत् । अतएव सत् एवं असत् से विलक्षण सूक्ष्म सत् को सायण प्रभृति भाष्यकारों एवं उत्तरकालिक दार्शनिकों ने अनिर्वाच्य कहा है । यहां यह कहना संगत होगा कि उत्तरकालिक दार्शनिक सम्प्रदाय प्रवर्तित कार्यकारण सिद्धान्त द्वारा जैसे, न्यायदर्शन के **असत्कार्यवाद**, सांख्यदर्शन के **सत्कार्यवाद** एवं वेदान्तदर्शन के **विवर्त्तवाद** के मूल बीज कार्यकारण विषयक वैदिक दर्शन की उपर्युक्त विचार दृष्टि में स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं ।

यहां न्यायदर्शन सम्मत **कार्यकारणवाद** के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा ।

न्यायदर्शन

न्यायदर्शन के अन्तर्गत कार्यकारण सिद्धान्त का निरूपण सर्वाधिक विस्तृत एवं सूक्ष्म रूप से किया गया है । न्यायदर्शन में कारण को साधकतम अथवा असाधारण कारण कहा गया है । यद्यपि घटादि कार्यों के निर्माण में रासभ (गदहा, आदि का सम्बन्ध भी देखा जाता है, किन्तु वे कारण की कोटि में नहीं आते । कारण का लक्षण "यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्"[२] है । अर्थात् जिसकी सत्ता कार्य से पूर्व निश्चित हो, तथा जो अन्यथासिद्ध (जिसके विना कार्य की सिद्धि सम्भन न हो) हो, वह **कारण** कहलाता है । जैसा कि स्पष्ट है, कारण

---

१. नासदासीत् नो सदासीत् तदानीम् । ऋग्वेद् १०-९०-१

२. तर्कभाषा, प्रमाणनिरूपणम् ।

के उपर्युक्त लक्षण में, दो पद नियतपूर्वभाव एवं अनन्यथासिद्ध महत्त्वपूर्ण हैं। नियतपूर्वभाव का आशय यह है कि जिसका कार्य के पहिले स्थित होना निश्चित हो। उदाहरणार्थ, घट के निर्माण में कुम्भकार एवं दण्ड का होना पहिले से निश्चित है। 'कारण' के लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' इसलिए जोड़ा गया है कि घटादि के निर्माण कार्य में कुम्भकार एवं उसके दण्ड के अतिरिक्त गर्दभ आदि का भी सम्बन्ध रहता है, क्योंकि कुम्भकार तालाब से गर्दभ पर मिट्टी लादकर लाता है, किन्तु गर्दभ का नियतपूर्ववर्तित्व होने पर भी उसे 'अनन्यथासिद्ध' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गर्दभ के अतिरिक्त कुम्भकार घोड़े पर भी मिट्टी ला सकता है, या फिर अपने सिर पर भी मिट्टी लादकर ला सकता है। इस प्रकार गदहा अथवा घोड़ा 'अनन्यथा सिद्ध' न होकर अन्यथासिद्ध की कोटि में गिना जाता है। न्यायदर्शन के घटादि निर्माण कार्य से सम्बन्धित पांच अन्यथासिद्धों का निर्देश किया गया है। ये पांच अन्यथासिद्ध दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश, कुम्भकार का पिता तथा गर्दभ हैं। ये पांचों नियतपूर्व तो हैं, किन्तु अनन्यथासिद्ध न होकर घटनिर्माणकार्य में नितान्त उपयोगी नहीं हैं। अत एव अन्यथासिद्ध हैं।

पुनश्च, न्यायदर्शन के अन्तर्गत कारण **समवायिकारण, असमवायिकारण** एवं **निमित्तकारणरूप** से तीन प्रकार का है। जब समवाय सम्बन्ध से कारण के रहते हुए कार्य की उत्पत्ति होती है तो वह समवायिकारण होता है।[१] उदाहरणार्थ घट के निर्माण कार्य में मृत्तिका (द्रव्य) समवायिकारण है। कार्यैकार्यप्रत्यासन्न तथा कारणैकार्य प्रत्यासन्न रूप से समवायिकारण के भी दो भेद हैं। प्रत्यासत्ति का अर्थ एक अधिकरण में दो वस्तुओं की स्थिति है। जैसे, जिस अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से कार्य की विद्यमानता है, उसी अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से स्थित असमवायिकारण कार्यैकार्यप्रत्यासन्न होता है। उदाहरणार्थ, पट में तन्तुसंयोग कार्यैकार्यप्रत्यासन्न है। इस उदाहरण के अन्तर्गत यह व्याख्येय है कि तन्तुओं द्वारा उत्पन्न कार्यरूप पट, तन्तुओं के अन्तर्गत समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हैं। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि उन्हीं तन्तुओं में गुण होने के कारण, संयोग भी

१. यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्।

समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है। इस प्रकार पट में रहने वाला तन्तुसंयोग प्रथम प्रकार का असमवायिकारण है। समवायिकारण का दूसरा भेद 'कारणैकार्य प्रत्यासन्न' है। कारणैकार्यप्रत्यासत्ति के अनुसांर, एक अधिकरण में समवायिकारण के साथ रहने वाला कारण **'कारणैकार्यप्रत्यासन्न'** है। उदाहरण के लिए, पटरूप कार्य में, तन्तुरूप कारण कारणैकार्यप्रत्यासन्न कहा जाएगा। यहां यह अवलोकनीय है कि पटगतरूप पट में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, तथा यह कारण पट-तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। इसी प्रकार तन्तुओं में तन्तुरूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। इस प्रकार पटरूप के प्रति तन्तुरूप द्वितीय प्रकार का असमवायिकारण है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार **असमवायिकारण** उसे कहते हैं, जो समवायिकारण में प्रत्यासन्नरूप से रहता है तथा कार्य की उत्पत्ति में जिसकी सामर्थ्य निश्चित है।[१] उदाहरणार्थ तन्तु संयोग पट का असमवायिकारण है। यहां तन्तु संयोग (गुण) के पट के समवायिकारण तन्तुओं (रूप) गुणियों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होने के कारण पट के समवायिकारण में प्रत्यासन्न होने से तथा पट के प्रति अनन्यथासिद्ध नियतपूर्व भावित्व होने के कारण पट के प्रतिकारण होने से, तन्तु संयोग पट का असमवायि कारण है। इसी प्रकार तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है। **निमित्तकारण** समवायिकारण तथा असमवायिकारण से सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ कुलाल एवं चक्र चीवरादि पट के निर्माण में निमित्तकारण हैं। वेदान्त दर्शन में **त्रिगुणात्मका माया** जगत् की उपादानकारण एवं मायोपदित ईश्वर अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

असत्कार्यवाद न्याय वैशेषिक के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता न मानने के कारण ही, इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद कहते हैं। नैयायिक के अनुसार कार्य की सत्ता कारण से पृथक् है, अत: कारण में कार्य के रहने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। उदाहरणार्थ, जैसा कि ऊपर भी कहा गया है, मृत्तिका से जिस घट का निर्माण होता है, वह घट मृत्तिका में वर्त्तमान नहीं है। इस प्रकार न्यायवैशेषिक कार्यकारण

---

१. असमवायि कारणं तदुच्यते यत्समवायि कारणप्रत्यासन्न मवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्। त.भा. प्रमाणनिरूपणम्।

सम्बन्ध में, सांख्य दर्शन के अनुसार परिणामवादी अथवा सत्कार्यवादी नहीं है, क्योंकि न्यायवैशेषिक सत्कार्यवादी सांख्य की तरह कार्य (सृष्टि) को कारण का परिणाम न स्वीकार कर, नवीन कार्य की सृष्टि मानता है । सांख्य दर्शन के आचार्यों ने सत्कार्यवाद के समर्थन में युक्तियां देते हुए कहा है कि कार्य पदार्थ की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति न होने के कारण, प्रत्येक कार्य का स्वतन्त्र उपादान होने के कारण, किसी एक उपादान कारण से समस्त कार्यों की उत्पत्ति न होने से, जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति देखी जाने से तथा कारण के गुणों के कार्य में अनुप्रविष्ट होने से कारण में कार्य का अस्तित्व स्वीकार करना अभीष्ट है ।[१] इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि नैयायिक नितान्त अभाव अथवा अत्यन्ताभाव की भाव रूप से सृष्टि नहीं मानता, अपितु उसका इस तथ्य पर विशेष बल है कि कारण में कार्य सत् रूप से वर्त्तमान नहीं हैं । अतएव नैयायिक का कार्यकारणवादी सिद्धान्त 'असतकार्यवाद' के रूप में प्रख्यात हुआ है ।

न्यायदर्शन में मोक्ष

मोक्ष को चरम लक्ष्य के रूप में प्राय: सभी दर्शन पद्धतियों में स्वीकार किया गया है । सामान्यत: दु:खनिवृत्ति एवं तत्फलस्वरूप सुख शान्ति की प्राप्ति ही मोक्ष है । किन्तु विशेष रूप से विचार करने पर सभी दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप एवं उसके उपायों में यत् किंचिद् भेद अवश्य मिलता है । जहां तक न्याय दर्शन का प्रश्न है, गोतम ने न्यायसूत्र (१-१-२२) में मोक्ष का लक्षण **'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग:'** (उस जन्म रूप दु:ख से प्रत्यन्त अर्थात् पुनरावृत्ति रहित विमुक्ति मोक्ष है) ऐसा किया है । मोक्ष की स्थिति का निरूपण करते हुए, भाष्यकार वात्स्यायन का कथन है कि मोक्ष की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर उपात्त-जन्म का त्याग हो जाता है तथा दूसरा जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता । यह मोक्षावस्था अविनाशी अपवर्ग स्वरूप है । यह

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ सांख्यकारिका-९

अवस्था सर्वथा भयरहित, जरारहित, शाश्वत ब्रह्मस्वरूप एवं क्षेम (नित्यसुख) स्वरूप है ।[१]

यहां यह उल्लेख्य है कि मोक्ष की यह स्थिति मुक्त के शरीरत्याग से पूर्व की स्थिति है, क्योंकि न्यायदर्शन भी प्रारब्ध भोग के लिए ज्ञानी की भी शरीर स्थिति मानता ही है । इसीलिए न्याय में अपर निःश्रेयस को स्वीकार किया गया है,[२] जो जीवन्मुक्ति का ही स्वरूप है । एवञ्च परनिः श्रेयस् **विदेह मुक्ति है** ।[३] प्रारब्ध कर्म के भोग के सम्बन्ध में न्याय तथा वेदान्त की दृष्टि एक समान है । शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है कि जब तक पूर्वकृत कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता, तब तक मुक्त पुरुष को भी शरीर धारण करना ही पड़ता है ।[४]

न्यायमञ्जरी के अन्तर्गत मुक्त पुरुष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मुक्त जीव मोक्ष की स्थिति में, बुभुक्षा एवं पिपासा, लोभ एवं मोह तथा शिशिर एवं ग्रीष्म, इस छः प्रकार के ऊर्मिषट्क को पार कर लेता है, अर्थात् ये छः मुक्तात्मा को कदापि प्रभावित नहीं करते ।[५]

न्यायदर्शन के अनुसार मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि वेदान्त के समान न्याय में मोक्ष की स्थिति सच्चिदानन्द की स्थिति नहीं है, अपितु वह दुःखाभाव की स्थिति है । जो स्वभावतः सुख की स्थिति ही कही जाएगी । किन्तु नैयायिक मोक्ष की स्थिति को सुख की स्थिति न कहकर दुखाभाव की स्थिति कहता है, तथा वह इस स्थिति को वेदान्ती की तरह चित् अर्थात् चैतन्य

---

१. उपात्तस्य जन्मनो हानम्, अन्यस्य चानुपादानम् । एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं मन्यन्तेऽपवर्गविदः । तदभयम्, अजरम्, अमृत्युपदं ब्रह्म, क्षेमप्राप्तिः, न्यायभाष्य १-१-२२

२. यत्तावदपरं निश्श्रेयसं तत् तत्त्वज्ञानान्तरमेव भवति । न्यायवार्तिक, १-१-१

३. परनिश्रेयसं न तावद् भवति यावदुपभोगादुपात्तकर्माशयप्रचयो न क्षीयते । तात्पर्यटीका, पृ.८१

४. ब्र.सू.शा.भा. १-१-१५

५. स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ॥
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् । न्ययामञ्जरी, प.७७

की स्थिति भी नहीं स्वीकार करता। न्याय मत में तो चैतन्य आत्मा का आकस्मिक गुण है, जो शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के साथ आत्मा में वर्त्तमान रहता है। इस प्रकार उपनिषदों एवं वेदान्त द्वारा प्रतिपादित नित्यचिदानन्द स्वरूपब्रह्म की अवधारणा नैयायिक को कथमपि स्वीकार नहीं है। इसीलिए न्याय दर्शन के अन्तर्गत आत्मा में नित्य सुख की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त का पूर्णतया खण्डन किया गया है।[१] यहां यह वक्तव्य है कि जब नैयायिक मोक्ष को जैसा कि पहिले भी संकेत किया गया है, 'क्षेम प्राप्तिः' (न्या.भा. १-१-२२) स्वरूप मानता ही है तो उसे सुखस्वरूप मानने में क्यों आपत्ति है ? इस विषय में नैयायिक का तर्क है कि सुख तो एक प्रकार का रागातिशय है, जो बन्धन का ही रूप है। अतः मोक्ष को सुख स्वरूप नहीं कहा जा सकता। अतएव वेदान्त में मोक्ष को नित्य एवं सच्चिदानन्द स्वरूप कहा गया है। वस्तुतः वेदांन्त सिद्धान्तानुगत मोक्ष विशुद्ध एवं शाश्वत आनन्दस्वरूप है, जिसका प्रमाण स्वानुभूति ही है। इस प्रकार सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त[२] का मुक्तावस्था को आनन्दावस्था न स्वीकार करना समुचित नहीं है।

इतर सभी दर्शनों के समान न्याय भी मिथ्याज्ञानादि को मोक्ष में बाधक मानते हुए[३] तत्त्वज्ञान को ही मोक्षप्राप्ति में हेतु मानता है।[४] न्याय भाष्यकार वात्स्यायन का कथन है कि मिथ्याज्ञान से अनुकूल विषय में राग तथा प्रतिकूल विषय में द्वेष होता है। न्यायदर्शन में धर्माधर्ममूला प्रवृत्ति को पुनर्जन्म का कारण

---

१. नित्यं सुखमात्मनो महत्ववन्मोक्षे व्यज्यते, तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्त सुखी भवति, इति केचिन्मन्यन्तेः तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः। न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते नित्यं सुखमात्मनो महत्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यत इति। न्या.भा. १-१-२२

२. दासगुप्त के मत के लिए देखें, History of Indian Philosophy, Vol. 1, P. 366.

३. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। न्यायसूत्र, १-१-२

४. प्रमाणप्रेमयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। न्या.सू. १-१-१

बतलाया गया है। **प्रवृत्ति** दो प्रकार की है, **शुभा**[१] (पुण्यात्मिका) एवं अशुभा (पापात्मिका)। शरीर से चेष्टापूर्वक दान, निरीह प्राणियों की रक्षा, परिचर्चा (तीर्थाटन अथवा गुरूसेवा), वाणी से चेष्टा करते हुए, सत्य, हितकारक एवं प्रिय वचन बोलना तथा स्वाध्याय में रत रहना तथा मनसा प्राणिध्या, अस्पृहा एवं शास्त्र तथा गुरूपदिष्ट वाक्यों में श्रद्धा रखना, **शुभाप्रवृत्ति** है। **अशुभा** (पापात्मिका) प्रवृत्ति वह है, जिसमें मनुष्य दोषों के वशीभूत होकर शरीर से चेष्टा करता हुआ, हिंसा, स्तेय, एवं परदारागमन आदि का आचरण करता है, वाणी से मिथ्या, कठोर (दु:खह) एवं चुगली एवं असम्बद्ध वचनों का व्यवहार करता है तथा मन से चेष्टा करते हुए परद्रोह, परद्रव्य की इच्छा तथा नास्तिक्य का आचरण करता है।[२]

पुनर्जन्म एवं बन्धन से मुक्ति की साधनता के सम्बन्ध में यद्यपि न्याय दर्शन तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष लाभ के सिद्धान्त को स्वीकार करता है (तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम:), फिर भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार, इन चार प्रतिपत्तियों को भी न्याय में स्वीकार किया गया है।

न्यायदर्शन के अन्तर्गत मोक्ष लाभ के प्रयोजन से यम-नियम के द्वारा आत्म संस्कार की बात कही गई है। **यम** सभी आश्रमों में समान रूप से धर्म का साधन है तथा नियम विशिष्ट रूप से धर्म का साधन है। यम के अन्तर्गत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आते हैं, तथा नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान का परिगणन होता है। इस प्रकार यम एवं नियमपालन के द्वारा अधर्म का ह्रास एवं धर्म का उपचय होने पर आत्मा का संस्कार एवं शुद्धि होती है। न्यायदर्शन में अध्यात्मविधि का योगशास्त्र से ग्रहण करने का विधान है। योग शास्त्र में तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान तथा धारणा से अध्यात्म विधि का ग्रहण बतलाया गया है। इसके साथ ही मुमुक्षु के लिए, इन्द्रियों द्वारा

---

१. अथ शुभा शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धांचेति। सेयं धर्माय। न्या.भा. १-१-२

२. दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृत-परुष-सूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय। न्या.भा. १-१-२

भोग्यविषयों से निवृत्ति का अभ्यास, रागद्वेष के क्षय के लिए कहा गया है । न्याय-दर्शन में, मुमुक्षु के लिए, एकाकी जीवन का यापन करना, आहार में संयम तथा एक स्थान पर अधिक काल तक न रहने का विधान है ।[१] इसके अतिरिक्त मुमुक्षु को विद्याध्ययन विद्याभ्यास तथा विद्यामर्मज्ञों के साथ संवाद भी करना चाहिए ।[२]

इस प्रकार न्यायदर्शन के अन्तर्गत आचार पक्ष, मोक्षोपायों एवं मोक्ष का निरूपण स्पष्ट रूप से उपलब्ध है । अत: न्यायदर्शन मात्र प्रमाणविद्या न होकर मोक्ष विद्या भी है ।

निष्कर्षसूत्र

न्यायविषयक अनुशीलन से इस दर्शन का व्यापक महत्त्व स्पष्ट झलकता है । भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा में न्यायदृष्टि एक ऐसी विचार श्रृंखला है, जिसका सम्बन्ध, प्रमाणविषयक चिन्तन होने के कारण, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (वेदान्त) प्रभृति सभी भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं से अनिवार्यत: है, क्योंकि सभी दर्शनों में न्यूनाधिक रूप में प्रमाणचिन्तन देखने को मिलता है । प्रमाणविषयक चिन्तन में भी अनुमान का **हेत्वाभास** सहित सूक्ष्म निरूपण एवं परत: प्रामाण्य का चिन्तन न्यायदर्शन की अप्रतिम विशेषता है । इस प्रकार यह कहना होगा कि न्यायदर्शन की प्रमाण चिन्तन श्रृंखला का इतरदार्शनिक दृष्टि श्रृंखलाओं के दृढ़ीकरण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान है । अभी किए गए परिशीलन से यह पक्ष भी उजागर हुआ है कि न्यायदर्शन एक प्रमाणदर्शन अथवा तर्कपद्धति यद्वा तर्कविद्या ही नहीं है, अपितु, इसमें मोक्ष एवं मोक्षोपायपरक चिन्तन होने के कारण, यह अध्यात्म विद्या भी है । अतएव न्याय दर्शन समुचित रूप से भारतीयदर्शन की कोटि में परिगणित होने का अधिकारी है । परन्तु यह भी अंगीकार्य होना चाहिए कि परमार्थतत्त्व आध्यात्मिक अनुभव के स्वरूप का निरूपण न्याय दर्शन में यत् किंचित ही है, जिसकी कुछ पूर्ति सांख्य में किन्तु पूर्ण परिणिति वेदान्त में ही हुई

---

१. विशेष देखिए, न्यायभाष्य, ४-२-४६

२. ज्ञानग्रहणाभ्यासः तद् विद्यैश्च सह संवादः । न्यायसूत्र ४-२-४७

है। भारतवर्ष के आध्यात्मप्रधान होने के कारण (अध्यात्म विद्याविद्यानम्, गीता, १०/३२) आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में कोई भी चिन्तन दृष्टि मात्र तार्किक दृष्टि ही होगी, समूचे रूप से दर्शन कहलाने की अधिकारिणी कदापि नहीं। पश्चिम की बात दूसरी है, जहां के दार्शनिक सम्प्रदायों में तर्क (Logic) की शतप्रतिशत प्रधानता है। यह भी मानना होगा न्यायदर्शन की प्रमुखचिन्तन धारा भारतीय दर्शन की समन्वित प्रमुख चिन्तन धारा के लिए एक आवश्यक अपेक्षा थी, जैसाकि औपनिषद् दर्शन में भी अनुभव किया जाता है। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक चिन्तन की यह विशेषता है कि उसकी विभिन्न दार्शनिक चिन्तनायें एक दूसरी की पूरक हैं, विच्छृंखलकारिणी कदापि नहीं, क्योंकि अपेक्षा के अनुसार ही भारतवर्ष में प्रत्येक दर्शनपद्धति का प्रादुर्भाव हुआ है। अतएव न्याय दर्शन ही नहीं, समस्त भारतीय दर्शन एक समन्वयवादी गहन चिन्तन है।

न्यायदर्शन के अन्तर्गत परमाणु कारणवाद का जो सूक्ष्मनिरूपण किया गया है, वह वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक होने के कारण प्रशस्त है। न्याय परमाणुओं में अदृष्ट संयोग मानता है, तथा ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हुए, स्रष्टा स्वीकार करता है। किन्तु निमित्त कारण रूप स्रष्टा ईश्वर का परमाणु रूप उपादानों की सहायता से सृष्टि का सिद्धान्त जहां सृष्टि प्रक्रिया की वैज्ञानिक यथार्थता का प्रतिपादन करता है, वहां ईश्वर के स्वातन्त्र्य एवं सर्वशक्तिमत्व पक्ष में दौर्बल्य भी लाता है। वेदान्त में ईश्वर को अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानने से उसके सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वरूप एवं सर्वशक्तिमत्ता की रक्षा हो गई है। किन्तु सच बात तो यह है कि वेदान्त में भी त्रिगुणात्मिका माया को उपादान के रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए तो वेदान्त का मायावी **ईश्वर** जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, जैसा कि पहिले भी निर्देश किया जा चुका है।

न्यायदर्शन की परिकल्पना है कि **जगत्** की एक सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता है तथा आत्मा के साथ साथ परमाणु, मन, आकाश, काल तथा दिक् भी नित्य हैं। न्यायदर्शन की यह नित्यत्व कल्पना सर्वथा असंगत एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से अनपेक्षित है, क्योंकि नित्य वस्तु एक ही उपलभ्यमान होनी चाहिए, जिससे कि जिज्ञासु साधक

उसे प्राप्त कर शान्ति प्राप्त कर सके । अनेक नित्य मानने पर यह असंभव है । न्याय ने अपने सिद्धान्तिक कलेवर के अनुकूल्य की दृष्टि से परमाण्वादि के नित्यत्व की कल्पना की है । इसी प्रकार न्याय की आत्मतत्त्व में सुखाभाव एवं आनन्दाभाव की कल्पना भी निरर्थक ही कही जाएगी । सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य सुख शान्ति होने के कारण, इसके अभाव में न्यायदर्शन की सोद्देश्यता ही क्या रह जाएगी । फिर, न्याय दर्शन में दु:खाभाव को तो स्वीकार किया ही गया है । दु:खाभाव क्या सुखपरिणामी नहीं है । अत: न्याय प्रक्रिया को सुख पर्यवसायी स्वीकार करना क्यों अनभीष्ट है । दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष ने तो गोतम की सुखहीन दर्शन की कल्पना से खिन्न होकर आचार्य गोतम को सही अर्थ में गोतम अर्थात् ऊंचे दर्जे का बैल तक कह दिया है, जो लक्षण से गौर्वाहीक: (वाहीक बैल है) के समान आचार्य गोतम को महामूर्ख सिद्ध करता है ।[१] इसी प्रकार जैसा कि सर्वसिद्धान्तसंग्रह के अन्तर्गत कहा गया है, सरस भक्ति के उपासकों वैष्णवभक्तों को वृन्दावन में श्रृगाल बनकर विचरण करना स्वीकार है, किन्तु न्यायवैशेषिक द्वारा प्रतिपादित सुखलेश से वर्जित मुक्ति को अंगीकार करना कदापि अभिलक्षित नहीं होगा ।[२] कदाचित् ये अपमान जनक व्यंग्य किसी ने यदि गोतम के सामने किए होते तो वे अवश्य ही मानहानि का प्रश्न लेकर न्यायालय में जाते ।

अन्तत: यह स्वीकार करना होगा कि न्यायदर्शन के गोतम प्रभृत्ति आचार्यों ने वेदान्त आदि इतरदर्शन पद्धतियों के समान तत्त्वज्ञान, मोक्ष एवं मुक्ति के उपायों पर विशेष बल न देकर, छल, वितण्डा एवं जाति आदि के विवेचन को प्रधानता देकर, तर्क पद्धति पर ही विशेष ध्यान दिया है, जो दार्शनिकता की दृष्टि से समुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दर्शन तो तत्त्वज्ञान का साधन है—दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् । इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने नैयायिकों की उक्त तर्क पद्धति का वैय्यर्थ्य

---

१. मुक्तये य: शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव स: ॥ नैषधीय चरित, १७/७५

२. वरं वृन्दावने रम्ये श्रृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात् ॥ सर्वसिद्धान्तसंग्रह, पृ. २

सिद्ध किया है।[१] कतिपय समालोचकों ने न्याय की उक्त तर्क प्रणाली की, लीपापोती करते हुए, समर्थन किया है, किन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि न्यायदर्शन के गोतम प्रभृति आचार्यों की विवेचन दृष्टि में प्रधान (तत्त्वज्ञान) गौण एवं गौण (तर्क पद्धति) प्रधान हो गई है। किन्तु यह निःसन्दिग्ध है कि नैयायिक की सूक्ष्म विवेचनात्मक एवं वैज्ञानिक तर्क पद्धति की देन भारतवर्ष ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के लिए उपादेय एवं महनीय है।

१. व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका,१०

वैशेषिकदर्शन

मूलदृष्टि

हम प्रारम्भ से ही कहते आए हैं कि प्रत्येक दार्शनिक पद्धति का प्रादुर्भाव अपेक्षा के अनुसार हुआ है । दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं, कि जब एक दार्शनिक सम्प्रदाय के समक्ष कुछ प्रश्न चिह्न लग जाते हैं, तो स्वभावतः दूसरे सम्प्रदाय के द्वारा उन समस्याओं के समाधान प्रस्तुत होते हैं । यही बात वैशेषिक के सम्बन्ध में भी चरितार्थ है । न्यायदर्शन के अन्तर्गत परमत के दूषण की शास्त्रार्थ पद्धति एवं तर्क प्रणाली तो समृद्ध थी, किन्तु पदार्थविश्लेषण की न्यूनता का उसमें अनुभव किया जा रहा था । इस प्रकार भौतिक पदार्थ विश्लेषण वैशेषिक दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य बन गया । वैसे भी ये दोनों दर्शन—न्याय-वैशेषिक एक दूसरे के पूरक हैं । यह उल्लेखनीय है कि वैशेषिक दर्शन की मूल विचार दृष्टि भौतिक शास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्र परक, दोनों ही है । वैशेषिक के भौतिक शास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत यदि पदार्थ विश्लेषण एवं सूक्ष्म परमाणु प्रक्रिया एवं शोध निरुपित हुई है तो कणाद के वैशेषिक सूत्र के प्रथम सूत्र—"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः" (जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि होती है, वह धर्म है ।) से ही आध्यात्मिक दृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है । जैसाकि पहिले भी कहा जा चुका है, कदाचित् कणाद भी इस तथ्य से परिचित थे कि आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में किसी भी दर्शन की सैद्धान्तिक पूर्णता सम्भव नहीं होती । यह भी ध्यान देनें की बात है कि वैशेषिक सूत्र के उपर्युक्त प्रथम सूत्र में तो आध्यात्मिक दृष्टि का स्पष्ट संकेत है ही, वैशेषिक सूत्र के कर्म के सम्बन्ध करते हुए कहा गया है कि वैदिक कर्म अज्ञात रूप में मनुष्य की सुख स्मृद्धि में सहायक होते हैं । वैशेषिक की मूल दृष्टि के अनुसार वैदिक कर्मों के दृष्ट तथा अदृष्ट रूप से दो प्रकार के फल होते हैं ।

कुछ फलों का लाभ तत्काल होता है, ये दृष्ट फल हैं। किन्तु कुछ कर्मों का फल अदृष्ट रूप से मिलता है। वैशेषिक का तात्पर्य है कि द्रव्य, गुण आदि भौतिक क्रियाओं से धर्म के अनेक अंगों की व्याख्या की जा सकती है तथा उससे समस्त घटनाओं के आदि कारण को समझा जा सकता है। किन्तु जो व्यापार साधारणतया बुद्धि गम्य नहीं है, वे धर्म के अदृष्ट फल हैं। कुछ व्यापार इन्द्रियातीत हैं, जैसे सुई का चुम्बक के प्रति आकृष्ट होना (तै.सू. ५-१-१५) वनस्पति में जल का संचार (वै. सू. ५-२-७), अणुओं की वह गति जिससे अनेक संयोगों के कारण द्रव्य बनते हैं (वै. सू. २.१३, ४-२-७) तथा बुद्धि की प्रारम्भिक गति, ये सब अदृष्ट फल हैं। वैशेषिक दर्शन में दृष्ट एवं अदृष्टं की मूल पृष्ठ भूमि देखने को मिलती है। वैशेषिक दृष्ट तथा अदृष्ट का स्वरूप स्पष्ट करते हुए मानता है कि जो कर्म सांसारिक अनुभव के आधार पर समझे जा सकते हैं तथा जिनकी व्याख्या ज्ञात तथ्यों एवं घटनाक्रम के सादृश्य से की जा सकती है, वे 'दृष्ट' हैं। इसके विपरीत जो कर्म इन्द्रियातीत हैं तथा जहां व्यावहारिक बुद्धि की गति नहीं है, वे 'अदृष्ट' हैं। अदृष्ट के नाश होने से मोक्ष का लाभ होता है, क्योंकि 'अदृष्ट' नष्ट होने से ही समस्त संसर्गों एवं पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है। जहां तक अदृष्ट के हेतु का प्रश्न है, वैशेषिक, वैदिक कृत्यों, जैसे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, भजन, दान एवं मन्त्रपाठ (वै.सू. ५.२.२) आदि को अदृष्ट का हेतु मानता है। वैशेषिक ईश्वर को न मानकर अदृष्ट से ही ईश्वर का काम चलाता है। **आत्मा** के अस्तित्व के सम्बन्ध में वैशेषिक की व्यावहारिक युक्ति यह है कि व्यक्ति प्रत्येक क्षण अहन्ता का अनुभव करता है और यह अहमनुभव प्रत्यक्ष में शरीर से भिन्न स्थिति का है। इस प्रकार अहमनुभव ही शरीरस्थ आत्मा का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि होती ही है। वैशेषिक के उपर्युक्त **कर्म, धर्म,** अध्यात्म, अदृष्ट, ईश्वर एवं आत्मतत्त्व विषयक दृष्टिकोण से यह निष्कर्ष ग्रहण करना उचित ही होगा कि वैशेषिक के उक्त दृष्टिकोण के मूल में धर्म कर्मादि की वैदिक दृष्टि ही प्रधान थी। जैसा कि प्रस्तुत निरुपण के आरम्भ में ही कहा गया था, वैशेषिक दर्शन भौतिक शास्त्र एवं अध्यात्म शास्त्र दोनों से ही समृद्ध है। अध्यात्म की वैदिक पृष्ठभूमि की संभावना का संकेत ऊपर किया जा

चुका है । यहां निर्देश्य है कि वैशेषिक भौतिक शास्त्र के प्रधान सिद्धान्त अणुवाद के निरुपण के आधार पर कुछ विद्वानों का यह मानना है कि वैशेषिक दर्शन जैन दर्शन की ही एक शाखा है । इस सम्बन्ध में इन विद्वानों का तर्क है कि जैनों का एक परवर्ती ग्रन्थ 'आवश्यक'[१] रोहगुणा (१८ई.) को वैशेषिक दर्शन का रचयिता स्वीकार करता है ।

रोहगुणा जैन धर्म के षष्ठ विभेद का प्रधान गुण था । यह उल्लेखनीय है कि जैन सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित अल्प वैशेषिक शास्त्र कणाद की वैशेषिक योजना के अनुकूल ही था । किन्तु फिर भी तथाकथित जैन सम्प्रदाय एवं वैशेषिक की परमाणु विषयक प्रकल्पना में पर्याप्त मतभेद होने के कारण, वैशेषिक को जैन धर्म की शाखा कहना समुचित नहीं है । जहां तक जैन दर्शन एवं वैशेषिक के मतभेद के स्थलों की बात है, जैन मत में गुणों की दृष्टि से परमाणु एक समान हैं । प्रत्येक **परमाणु** के अन्तर्गत, रंग, रस, गन्ध तथा स्पर्श एवं शब्द की उत्पत्ति की सामर्थ्य वर्तमान है, यद्यपि परमाणु निःशब्द हैं । इसके विपरीत वैशेषिक के मतानुसार गुणों की दृष्टि से परमाणुओं में मतभेद द्रष्टव्य है । ये परमाणु वायु, जल, अग्नि तथा पृथ्वी जिसके भी परमाणु हों, उसी के अनुसार एक, दो, तीन या चार सामान्य गुण वाले होते हैं । किन्तु शब्द के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार परमाणुवाद की प्रकल्पना द्रव्यवर्गीकरण तथा ज्ञान के दो साधनों का मानना, इस मान्यता को पुष्ट करता है कि वैशेषिक दर्शन की रचना बुद्ध तथा महावीर के काल में षष्ठ-पञ्चम शताब्दी ई.पू. में हुई थी ।[२] वस्तुतः वैशेषिक दर्शन की मूल दृष्टि की व्यवस्थित व्याख्या कणाद के द्वारा ही सम्पन्न हुई थी ।

वैशेषिक नाम क्यों पड़ा

अनेक सामान्यों में एक 'विशेष' का अनुसन्धान होने के कारण ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक प्रख्यात हुआ है । एतदनुसार विश्व की पृथक् पृथक् जीवात्माओं

१. S.B.E. Vol. XXXXV, P. 38

२. देखिए,Ui, H. Vaiśeṣika Philosophy, P. 33

एवं परमाणुओं में यथोर्थतः विशिष्टत्व एवं पार्थक्य है । इस प्रकार वैशेषिक दर्शन 'विशिष्टत्वं' एवं 'पार्थक्य का दर्शन' है । अतएव वैशेषिक दर्शन में पदार्थों का विश्लेषण है, संश्लेषण नहीं । इसीलिए वैशेषिक एक वैज्ञानिक दर्शन है, क्योंकि विज्ञान में विश्लेषण होता है, संश्लेषण नहीं । यद्यपि वैशेषिक में इतर दर्शनों की तरह सामान्यतः समन्वयवाहिता भी है । समन्वय तो प्रत्येक दर्शन का जैसे लक्षण ही है । चिरस्तान(५४९-६२२ ई.) तथा क्वहेइची(६२३-६८२ ई.) द्वारा अनुसन्धान की गई एक परम्परा के अनुसार अन्य दर्शनों विशेषकर सांख्यदर्शन से विशिष्ट होने के कारण, इस दर्शन का नाम **'वैशेषिक'** पड़ा । निम्नलिखित श्लोक के अनुसार, द्वित्वोअस्ति, पाकज एवं विभागज विभाग के सम्बन्ध में वैशेषिक का अपना विशेष मत है, अथवा यों कहिए कि वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने ही इन विषयों का विशेष निरुपण किया है, अतएव इस दर्शन का नाम वैशेषिक प्रख्यात हुआ है—

दित्वे चं पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ।।

वैशेषिक दर्शन काणाद एवं **औलूक** दर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध है । वैशेषिक सूत्रों के लेखक कणाद होने के कारण, इस दर्शन का काणाद नाम उचित ही है । किन्तु इसे औलूक दर्शन की संज्ञा देने के पीछे कई तर्क हैं । एक तर्क यह है कि उलूक का तम अर्थात् अन्धकार से विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि उलूक को रात्रि के गाढ़ान्धकार में भी दिखाई देता है । इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी तम द्रव्य को प्रकाश का अभाव, बतलाकर उसका प्रतिपादन किया गया है ।[१] इस आशय की पुष्टि नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष के निम्नोद्धृत पद्य से भी होती है—

ध्वान्तस्यवामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तपस्तत्वनिरूपणाय ।।

नैषधीयचरित, २२

१. आवश्यकतेजोऽभावेनोपपत्तौ (तमसो) द्रव्यान्तर कल्पनाया अन्याय्यत्वात् । मुक्तावली, १/३

सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने, इस सम्बन्ध में अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'औलूक्य' (उलूक का बच्चा) शब्द का प्रयोग, कणाद के लिए होता था, इसीलिए कणाद द्वारा प्रतिपादित दर्शन भी औलूक्य अथवा औलूक नाम से प्रसिद्ध हुआ । मेरे विचार से वैशेषिक में तम (अन्धकार) द्रव्य का प्रतिपादन होने के कारण तथा उलूक का अन्धकार से विशेष सम्बन्ध होने के कारण ही, वैशेषिक दर्शन औलूक अथवा औलूक्य दर्शन के नाम से प्रख्यात हुआ होगा ।

न्याय एवं वैशेषिक— प्रारम्भिक न्याय एवं वैशेषिक में अन्तर स्पष्ट न होने के कारण ही, न्याय एवं वैशेषिक का साथ-साथ व्यवहार होता है । न्याय दर्शन के आचार्य गोतम (१५० ई.पू.) एवं वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद (५०० ई.पू.) की पूर्ववर्तिता एवं परवर्तिता के कारण ही न्याय वैशेषिक में न्याय शब्द का प्रयोग पहिले और वैशेषिक शब्द का प्रयोग पश्चात् हुआ है । यह कहना होगा कि न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तों का मतभेद, इनके भाष्यकारों एवं टीकाकारों के द्वारा उत्पन्न किया गया था । एक बात और है, यदि देखा जाय तो न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्रमाण शास्त्र का विशेष चित्रण एवं विश्लेषण होने के कारण, न्यायदर्शन साधन परक है, किन्तु वैशेषिक के अन्तर्गत प्रमेयों का विशेष निरुपण होने के कारण, साध्यपरक दर्शन तो वैशेषिक ही है । इस प्रकार न्याय की अपेक्षा वैशेषिक का अधिक महत्त्व आंका जा सकता है ।

यहां न्याय एवं वैशेषिक की समताओं एवं विषमताओं के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा । वैशेषिक दर्शन के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा, इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग से होता है ।[१] वैशेषिक का यह भी मानना है कि रूप विशेषका 'संस्कार' में ही प्रत्यक्ष हो सकता है । किन्तु न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही मन के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । दोनों का ही यह मानना है कि विभिन्न वस्तुओं का बोध एक काल में संभव नहीं है और न वस्तु बोधार्थ तत्काल प्रयत्न ही संभव है । अत: आत्मा के अतिरिक्त मन का

---

१. देखिए, वै.सू. ३-१-१८ तथा ३-११-१

अस्तित्व स्वीकार करना स्वाभाविक है। न्यायसूत्र प्रत्यक्ष प्रमाण भी शास्त्रीय व्याख्या तो करते हैं, किन्तु वैशेषिक के समान 'संस्कार' अथवा 'उद्‌भूतरूपत्व' का उल्लेख, नहीं करते। इसके अतिरिक्त वैशेषिक न्याय के समान, पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट रूप से अनुमान प्रमाण के भेद नहीं मिलते। यहां यह उल्लेखनीय है कि उत्तरन्याय में 'व्याप्ति' का विशेष महत्त्व है, किन्तु हेतु तथा साध्य की सदव्याप्ति का निरुपण न न्याय में है, और न वैशेषिक दर्शन में। यहां यह वक्तव्य है वैशेषिक दर्शन में। हेतु एवं साध्य की सदव्याप्ति के सिद्धान्त को कथञ्चित् स्वीकार तो कर लिया गया है, किन्तु वहां भी व्याप्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।[१] इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र 'शब्द' को तो प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते, किन्तु वेदों की प्रामाणिकता को मानते हैं। परन्तु न्यायदर्शन में शब्द प्रमाण को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त न्याय में **'उपमान'** का जो महत्त्व है, उसका वैशेषिक में अभाव है। इसी प्रकार न्याय में, अर्थापत्ति, सम्भव तथा ऐतिह्य का जो निरूपण मिलता है, वह भी वैशेषिक में सर्वथा अनुपलब्ध ही है। 'प्रभाव' के प्रत्यक्ष (जैसे, घटाभाव वदभूतल) के विषय में न्याय एवं वैशेषिक की समान दृष्टि है, किन्तु दोनों की प्रक्रिया में भेद है। वैशेषिक के अनुसार जिस वस्तु की स्थिति के अभाव की ओर संकेत है, उसकी अपेक्षा से ही अभाव का प्रत्यक्ष होता है।[२] किन्तु इसके विपरीत न्याय दर्शन के अनुरूप, अभाव का प्रत्यक्ष, किसी वस्तु के अस्तित्व के अभाव से जन्य है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष तथा समवाय की जो विशेष व्याख्या की गई है, उसका न्याय में अभाव है। न्यायसूत्र इन्द्रिय चेतना को द्रव्य का रूप देते हैं, परन्तु वैशेषिक में ऐसा नहीं है। जैसा कि न्यायदर्शन के निरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है, इसमें ईश्वर सिद्धि का प्रयास किया गया है। वैसे इस सम्बन्ध में न्यायकुसुमाञ्जलिकार उदयन का उदाहरण दिया जा सकता है। परन्तु इसके विपरीत वैशेषिक में ईश्वरसिद्धि का

---

१. प्रसिद्धिपूर्वकसत्वात् अपदेशस्य। वै.सू. ३-१-१४

२. वै.सू.९.१-१-१०

को प्रयास नहीं देखने में आता । यहां तो **'अदृष्ट'** को ही परमाणु संयोग का कारण स्वीकार किया गया है । वैशेषिकदर्शन के अन्तर्गत आत्मा प्रत्यक्ष रूप से जिस चैतन्य को ग्रहण करती है, वह आत्म चेतना ही **संज्ञान** है । किन्तु न्यायदर्शन में, आत्मा के अस्तित्व विषयक कारणों में, इन्द्रिय चेतनात्मक संज्ञान की एकरूपता एवं अभिज्ञान की प्रक्रिया का निर्देश दृष्टिगोचर होता है । यह भी उल्लेखनीय है कि न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही अणुओं के अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु उत्तर कालिक न्यायवैशेषिक में की गई अणु के स्वरूप की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है । जहां तक मोक्ष की बात है, वैशेषिक में देह बन्धन से मुक्ति (निःश्रेयस) यदि मोक्ष है, तो न्याय में इसके स्थान पर अपवर्ग को स्वीकार किया है, जिसका अर्थ दुःखों से मुक्ति है ।

उत्तरकालिक न्याय तथा वैशेषिक में संख्या की कल्पना एवं अणुओं के रंग परिवर्तन आदि के सम्बन्ध में विशेष मतभेद पाया जाता है । इस सम्बन्ध में वैशेषिक का मत है कि संख्या के प्रत्यक्ष बोध में, पहिले इन्द्रियों के वस्तुविशेष से सम्पर्क होते है । इसके पश्चात् वस्तु के एकत्त्व एवं अपेक्षाबुद्धि से द्वैत एवं त्रैत का बोध होता है । इसी प्रकार **'पीलुपाक'** सिन्द्रान्त के अनुसार जिसका अर्थ अग्नि संयोग के द्वारा पृथ्वी के रूप में परिवर्तन आना है, वैशेषिक का मत है कि अग्नि संयोग के कारण पृथ्वी के परमाणुओं के गुणों में अन्तर आ जाता है । किन्तु इस सम्बन्ध में न्याय का मत है कि यह अन्तर अणुओं में आता है ।[१]

वैशेषिक न्याय से पूर्ववर्त्ती है

वैशेषिक दर्शन न्यायदर्शन से पूर्ववर्त्ती है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख कारण प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

---

१. विशेष देखिए, माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह—औलूक्यदर्शन BORI, Poona, I edilion, 1978.

(१) न्याय दर्शन के अन्तर्गत 'अवयवी' तथा भूतों के नित्यानित्यत्व के सम्बन्ध में बौद्ध मत का जो खंडन मिलता है, वह वैशेषिक में अप्राप्त है । इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वैशेषिक न्याय से पूर्ववर्त्ती है ।

(२) न्यायदर्शन के अन्तर्गत अर्थापत्ति आदि का खंडन किया गया है, किन्तु वैशेषिक सूत्रों में यह खंडन नहीं उपलब्ध होता ।

(३) जैसा कि पहिले स्पष्ट किया जा चुका है, न्याय में अनुमान की जो व्याख्या एवं पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतो दृष्ट भेद मिलते हैं, वे वैशेषिक में अप्राप्त हैं । इससे भी यही सिद्ध होता है कि वैशेषिक सूत्र न्याय पूर्ववर्त्ती है । क्योंकि यदि वैशेषिक सूत्र न्याय परवर्त्ती होते तो उनमें अनुमान विषयक उपर्युक्त विवरण अवश्य उपलब्ध होता ।

(४) वैशेषिक में 'अनपदेश' के आधार पर हेत्वाभास का निरूपण हुआ है । किन्तु न्याय में हेत्वाभास का जो विशदीकृत विवेचन मिलता है, उसका वैशेषिक में अभाव है, इससे भी वैशेषिक का न्यायपूर्ववर्त्ती होना ही सिद्ध होता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वैशेषिक सूत्र, न्यायसूत्र के पूर्ववर्त्ती हैं ।

वैशेषिक सूत्रों का रचना काल

वैशेषिक सूत्रों के रचनाकाल के सम्बन्ध में जो विशेष मत मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) जैसा कि अभी स्पष्ट किया गया है, वैशेषिक सूत्रों की रचना न्यायसूत्रों से पूर्व हुई थी । इस मत पर गार्वे ने विशेष बल दिया है ।[१] इस मत की पुष्टि में यह तर्क दिया जाता है कि प्रथम, व्यक्ति विशेष, ज्ञान की ओर आकृष्ट होता है, इसके पश्चात् वह सामान्य ज्ञान की ओर आकृष्ट होता है ।[२] इस मत के अनुयायी कणाद के वैशेषिक सूत्र एवं प्रशस्तपादकृत पदार्थ धर्म संग्रह पर न्यायसूत्र के किसी प्रभाव

---

१. Garbe, The Philosophy of Ancicnt India, P. 20

२. Radhakrishnan, Indian Philosphy. Vol. II. P. 177

को नहीं स्वीकार करते । इसके विपरीत गोतम के न्यायसूत्र एवं वात्स्यायन के भाष्य पर वैशेषिक का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है ।

इस मत के अन्तर्गत, यह तर्क कि मानवीय ज्ञान में विशेष सामान्य से पहिले आता है, बहुत उचित नहीं प्रतीत होता । क्योंकि ऐसा देखने में आता है कि व्यक्ति पहिले किसी विशेष के सामान्य ज्ञान की ओर आकृष्ट होता है, इसके पश्चात् वह उस विषय के विशेष ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है । वैसे भी व्यक्ति की प्रवृत्ति पहिले सरलता-सामान्य की ओर होती है, तत्पश्चात् क्लिष्टता-विशेष की ओर, जैसा कि अरुन्धती न्याय में देखने में आता है । किन्तु जो भी हो, यह कहना उचित ही है कि न्याय पर वैशेषिक का प्रभावपूर्ण रूप से परिलक्षित होता है ।

(२) यह मत भी प्रसिद्ध है कि वैशेषिकदर्शन की रचना बौद्ध एवं जैनदर्शन की पूर्वकालिक है । इस सम्बन्ध में एक तर्क यह दिया जाता है कि बौद्धों के निर्वाण सिद्धान्त का उद्भव वैशेषिक के 'असत् कार्यवाद' विषयक विचार से हुआ है ।[१] इसके अतिरिक्त, मिलिन्द प्रश्न, लंकावतार सूत्र एवं ललितविस्तर—इन बौद्ध ग्रन्थों में वैशेषिक का उल्लेख मिलता है । शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों को **अर्धवैनाशिक** (अर्थ शून्यवादी) कहा है ।[२] इससे भी वैशेषिक को बौद्धदर्शन से पूर्ववर्त्ती होना सिद्ध होता है । इस सम्बन्ध में एक तथ्य और उल्लेखनीय है, वह यह कि वैशेषिक सूत्रों में बौद्धदर्शन का किञ्चित संकेत नहीं मिलता । जहां तक जैनदर्शन की वैशेषिक की अपेक्षा परवर्त्तिता का प्रश्न है वहां यह कहना अभीष्ट है कि जैनदर्शन की परमाणु प्रक्रिया एवं तत्त्वमीमांसा, वैशेषिक के परमाणु विवेचन एवं पदार्थनिरुपण पर आश्रित है । इस प्रकार वैशेषिकदर्शन बौद्ध तथा जैन, दोनों दर्शनों से प्राचीनतम है । वैशेषिकदर्शन जैनदर्शन की अपेक्षा प्राचीनता है, इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकरण के आरम्भ में वैशेषिक की मूल दृष्टि के प्रस्तुतीकरण के अवसर पर पहिले भी किया जा चुका है ।

---

१. Radhakrishnan, Indian Philosophy Vol. II. P. 177

२. ब्र.सू.शा.भा. २-२-१८.

वैशेषिक सूत्र के रचना काल के सम्बन्ध में यह तथ्य भी विचारणीय है कि चरकसंहिता (ई. सन् ८०) के अन्तर्गत **गुण आदि** का वर्णन बहुत कुछ वैशेषिक पर आधारित है । इससे वैशेषिक की रचना चरक संहिता से पूर्ववर्ती सिद्ध होती है । यह भी कहा जा चुका है कि चरक संहिता के पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थ लंकावतार, सूत्र में वैशेषिक का उल्लेख मिलता है । इस प्रसङ्ग में यह तथ्य और उल्लेखनीय है कि लंकावतार सूत्र में प्राप्त परमाणु विषयक वर्णन भी वैशेषिक पर आधारित है । अत: वैशेषिक सूत्र की रचना निश्चय ही बुद्ध काल से पूर्व की है । यह बात दूसरी है कि कणाद ने वैशेषिक को आधुनिक रूप दिया होगा, किन्तु कणाद का वैशेषिकदर्शन भी न्याय से पूर्ववर्ती ही है । न्यायसूत्र का समय १५० ई.पू. है । इस प्रकार वैशेषिक काल छठी-पांचवी ई.पू. का रहा होगा ।

वैशेषिकदर्शन के आचार्य एवं साहित्य

कणाद वैशेषिक सूत्र के रचयिता कणाद के कई नाम मिलते हैं । वायु पुराण के अनुसार कणाद का जन्म द्वारिका के समीप प्रभास में हुआ था । ये सोम शर्मा के शिष्य थे । उदयनाचार्य ने किरणावली के अन्तर्गत कणाद को कश्यप मुनि का पुत्र बतलाया है । अतएव त्रिकाण्डकोष में इनका दूसरा नाम काश्यप भी बतलाया जाता है । कुछ विद्वान् इनके कणभुद होने के कारण, इनके कणाद नाम के पक्षपाती हैं । कतिपय अनुसन्धित्सु इनके परमाणु विज्ञान के निरूपक होने के कारण, इनके कणाद नाम की सार्थकता सिद्ध करते हैं । आर्यदेव नामक बौद्ध आचार्य द्वारा प्रणीत शतशास्त्र के चीन देशीय व्याख्याता चिस्तान के कथनानुसार कणाद दिन में ग्रन्थ प्रणयन में व्यस्त रहते थे तथा रात्रि में उलूक के समान जीविका का उपार्जन करते थे, अत: इनका एक नाम उलूक भी प्रसिद्ध था । राजशेखर आशुतोष ने उलूक का रूप धारण करके इन्हें वैशेषिकदर्शन का उपदेश दिया था, अतएव इनका नाम उलूक तथा वैशेषिकदर्शन का नाम 'औलूकदर्शन' प्रख्यात हुआ था ।

वैशेषिक सूत्र में तीन सौ सत्तर (३७०) सूत्र तथा कुल दश अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में २ आह्निक हैं ।

वैशेषिक सूत्र का संक्षिप्त वर्ण्यविषय

वैशेषिक सूत्र के प्रथम अध्याय में, द्रव्य, गुण, कर्म, विभाग तथा सामान्य का निरुपण है । द्वितीय तथा तृतीय अध्याय के अन्तर्गत **नौ द्रव्यों** का वर्णन किया गया है । चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में परमाणुवाद का निरुपण है, एवं द्वितीय आह्निक के अन्तर्गत अनित्य-द्रव्य विभाग का वर्णन है । वैशेषिक सूत्र के पांचवें अध्याय में कर्म का, षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत वेद प्रामाण्य एवं धर्माधर्म का और सप्तम तथा अष्टम अध्याय में गुणों का निरुपण किया गया है । नवम अध्याय के अन्तर्गत अभाव तथा ज्ञान का वर्णन वर्तमान है । वैशेषिक सूत्र के दशम अध्याय में, सुख-दु:ख के भेद एवं त्रिविधि कारणों का निरुपण वर्तमान है ।

वैशेषिक सूत्र, १-१-२ (यतोऽभ्युदयनिश्रेयस सिद्धिः सधर्मः) के अन्तर्गत अभ्युदय एवं नि:श्रेयस को धर्म का साध्य बतलाया गया है । नि:श्रेयस अथवा अपवर्ग जो मानव का चरम साध्य है, वैशेषिक सूत्र का प्रमुख प्रतिपाद्य है ।[१] न्याय एवं वैशेषिक दोनों ही के अनुसार नि:श्रेयस अथवा अपवर्ग दु:खाभाव स्वरूप है । अत: द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय, इन षट्पदार्थों के ही स्वीकार करने पर भी वैशेषिक के अन्तर्गत सप्तम पदार्थ की कल्पना उह्य समझनी चाहिए । यद्यपि इसका अभाव स्पष्ट उल्लेख वैशेषिक सूत्र में नहीं है । वैशेषिक सूत्र के अन्तर्गत धर्म विशेष से उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा समवाय, इन छ: पदार्थों के समान एवं विशेष धर्मों के द्वारा सिद्ध तत्वज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है ।[२]

अभाव के समान ही वैशेषिक में ईश्वर विषयक दृष्टि स्पष्ट नहीं है । ईश्वर का निर्देश वैशेषिक सूत्र में उपलब्ध नहीं है । किन्तु शंकर मिश्र ने निम्नलिखित सूत्रों में ईश्वर का संकेत ढूंढने का प्रयास किया है—

(१) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । (वै.सू. १-१-३)

इस सूत्र में 'तत्' पद से ईश्वर का संकेत निर्देश माना गया है ।

---

१. अभ्युदयो ब्रह्मादिलोकेषु इष्टशरीरप्राप्तिरनर्थोपशमश्च । चन्द्रानन्दवृत्ति ।

२. धर्मविशेषप्रसूतानां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधार्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसम् । वै. सूत्र. १-१-४

(२) संज्ञाकर्म तु अस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । (वै.सू. २-१-१८)
यहां 'विशिष्ट' से ईश्वर का अभिप्राय ग्रहण किया गया है ।

(३) प्रत्यक्ष प्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः । (वै.सू. २-१-१९)

(४) सामयिकः शब्दादर्थ प्रत्ययः । (वै.सू. २-१-१९)

युक्तिदीपिका (सांख्यकारिका की टीका) के अन्तर्गत काणाद दर्शन में पाशुपत सम्मत ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है ।[१]

प्रशस्तपाद (५००-६०० ई.) प्रशस्तपाद वैशेषिक सूत्र के प्रथम भाष्यकार हैं । वस्तुतः इन्हें सही अर्थ में वैशेषिक सूत्र का भाष्यकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि इन्होंने वैशेषिक सूत्रों का यथावत् भाष्य नहीं किया है । प्रशस्तपाद भाष्य बहुत कुछ स्वतन्त्र भाष्य है । प्रशस्तपाद ने इसे **'पदार्थ सधर्म संग्रह'** का नाम दिया है । तदनुसार प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्म संग्रह में द्रव्यादि छः पदार्थों के सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत प्रस्तुत किया है । उत्तरकालिक न्याय वैशेषिक के प्रमुख सिद्धान्तों, जैसे सृष्टि रचना तथा प्रलय संख्या का सिद्धान्त, अनेक परमाणुओं अणुपरिमाण का विनिश्चय तथा पीलुपाक सिद्धान्त का प्रथमवार उल्लेख 'पदार्थ धर्म संग्रह' के अन्तर्गत पाया जाता है ।

चन्द्र—(६४८ ई.) चन्द्र कृत दशपदार्थशास्त्र प्रशस्तपाद के पदार्थ धर्म शास्त्र पर आधारित है । इसका चीनी भाषा में अनुवाद आज भी सुरक्षित है ।

रावणभाष्य—रावणभाष्य का उल्लेख पद्मनाभ मिश्र कृत 'किरणावली भास्कर' तथा ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की गोविन्दानन्द रचित टीका[२] में मिलता है । किन्तु यह अनुपलब्ध है । आचार्य भारद्वाज ने पदार्थ धर्मशास्त्र पर वृत्ति लिखी है । इसका सम्पादन गंगाधर ने किया था ।[३] यह वृत्तिभाष्य सांख्यदर्शन से प्रभावित है ।[४]

---

१. काणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत् । युक्तिदीपिका ।

२. रत्नप्रभा, ब्र.सू. २-२.

३. कलकत्ता, १८६९

४. देखिए, Foddegon, The Vaiśeṣika. . . PP. 35-40

व्योमशेखराचार्य—इन्होंने पदार्थ धर्म संग्रह पर व्योमवती नामक टीका का प्रणयन किया था। यह टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा प्राचीन है।

श्रीधराचार्य—(१००० ई.) श्रीधराचार्य ने पदार्थधर्मसंग्रह पर 'न्याय-कन्दली' नामक प्रसिद्ध टीका की रचना की थी। इनका जन्म बंगाल के भूरिसृष्टि नामक ग्राम में हुआ था। श्रीधराचार्य के पिता का नाम बलदेव तथा माता का नाम अच्छोका था।

उदयनाचार्य—(१००० ई.) उदयनाचार्य ने किरणावली की रचना की थी। श्रीधर, एवं उदयन ने ही 'अभाव' को सप्तम पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया था। इन दोनों आचार्यों ने ईश्वर के अस्तित्व का भी समर्थन किया था। अतएव वैशेषिक दर्शन 'सप्तदर्शी' के रूप में प्रसिद्ध है।

बल्लभाचार्य—(१२०० ई.) बल्लभाचार्य ने 'लीलावती' नामक टीका की रचना की थी। ये बल्लभाचार्य पुष्टिमार्गी बल्लभाचार्य से भिन्न हैं। इसी टीका के ऊपर गणेश के पुत्र बुद्धिमान ने 'प्रकाश' नामक टीका का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त शंकर मिश्र की 'कण्ठाभरणं' तथा रघुनाथ शिरोमणि की 'दीधिति' टीका भी लीलावती की ही टीकाएं हैं।

चन्द्रानन्द—चन्द्रानन्द कृत वृत्ति वैशेषिक सूत्र की व्याख्याओं में सर्वाधिक प्राचीन समझी जाती हैं। इसका सम्पादन ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा से १९६१ में हुआ था।

इस कृति के रचना काल के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। हां, इतना अवश्य है कि इसमें उद्योतकर के नाम का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कृति का रचनाकाल उद्योतकर के पश्चात् मानना चाहिए।

मिथिलावृत्ति—(१२००-१३०० ई.) इस कृति का सम्पादन, मिथिला विद्यापीठ से १९५७ में हुआ था। इसका लेखक अज्ञात है। इसके सम्पादक अनन्तलाल देव शर्मा हैं। इस वृत्ति के अन्तर्गत उदयनाचार्य एवं वादी वागीश्वर का उल्लेख मिलता है। डा. वी. राघवन ने वादीवागीश्वर का काल ७५०-११००

ई. के मध्य स्वीकार किया है ।[१] अतः मिथिला वृति का समय इसके पश्चात् ही मानना होगा ।

शङ्करमिश्र (१५०० ई.) शङ्करमिश्र ने वैशेषिक सूत्रोपस्कार भाष्य की रचना की है । यह उपस्कार भाष्य वैशेषिक सूत्रों के अभिप्रायबोध का प्रमुख आधार समझा जाता है ।

जगदीश भट्टाचार्य (१५९० ई.) ये बंगाल (नदिया) के निवासी थे । इन्होंने प्रशस्त पाद भाष्य पर 'भाष्यसूक्ति' नामक टीका लिखी थी ।

शिवादित्य मिश्र (१००० ई.) शिवादित्य मिश्र रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ सप्तपदार्थी है । सप्तपदार्थी में न्याय एवं वैशेषिक के सिद्धान्तों का समन्वय वर्तमान है । जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस ग्रन्थ में 'अभाव' का सप्तम पदार्थ के रूप में निरुपण किया गया है । शिवादित्य ने लक्षणमाला नामक वैशेषिक ग्रन्थ की भी रचना की थी ।

पद्मनाभमिश्र (१६०० ई.) पद्मनाभ तर्कभाषाकार केशव मिश्र के बड़े भाई थे ।

उन्होंने प्रशस्तपाद भाष्य पर आधारित सेतु नामी टीका का प्रणयन किया था ।

जगदीश तर्कालङ्कार (१७०० ई.) इन्होंने ....

कतिपय अन्य टीकाएं एवं व्याख्याएं

मुरारिमिश्र (८००-९०० ई.) द्वारा प्रणीत अनर्घराघव से यह संकेत मिलता है कि रावण ने वैशेषिक सूत्रों पर टीका लिखी थी । आचार्य **जिनेन्द्र बुद्धि** ने **विशाला मलवती** टीका के अन्तर्गत **भ्रायस्क** आदि आचार्यों का उल्लेख किया है । विद्वानों का मानना है कि इन आचार्यों की वैशेषिक सूत्र पर कोई वृत्ति रही होगी । इसके अतिरिक्त आत्रेय नामक आचार्य की भी वैशेषिक सूत्र पर कोई वृत्ति रही होगी,

१. देखिए, अनन्तलाल देव शर्मा, भूमिका, मिथिलावृत्ति (बड़ौदा), प.८

ऐसा उल्लेख भी मिलता है ।[१] अनन्तलाल देव शर्मा के एक लेख से ज्ञात होता है कि भट्टवादीन्द्र प्रणीत 'कणादसूत्र निबन्ध' नाम्नी एक अप्रकाशित व्याख्या भी वैशेषिक सूत्र पर वर्तमान है ।[२]

विश्वनाथ पञ्चानन (१७०० ई.) विश्वनाथ पञ्चानन की प्रसिद्धि बंगाल में नव्यन्याय के संस्थापक के रूप में थी । ये रत्नाकर (विद्या) वाचस्पति के पौत्र एवं काशीनाथ विद्यानिवास के पुत्र थे । इनका एक ग्रन्थ भाषा परिच्छेद वैशेषिक पर है, और दूसरा, न्यायसूत्रकृत्ति न्यायसूत्रों की सरल व्याख्या है । भाषा परिच्छेद के अन्तर्गत १६८ कारिकाएं हैं, जिनमें वैशेषिक के सिद्धान्तों का निरुपण किया गया है । विश्वनाथ पञ्चानन ने ही भाषा परिच्छेद के विशदीकरणार्थ न्यायसिद्धछात्र मुक्तावली नाम्नी टीका का प्रणयन किया था, जो मूल भाषापरिच्छेद की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है । मुक्तावली की दो टीकाएं—दिनकरी तथा रामरुद्री अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । दिनकरी का लेखन, बालकृष्ण भारद्वाज के पुत्र, महादेव भट्ट भारद्वाज ने मुक्तावली प्रकाश नाम से आरम्भ किया था तथा इसे पूर्ण किया था, उनके पुत्र दिनकर भट्ट ने । इसीलिए इसका नाम 'दिनकरी' पड़ा था । दिनकरी पर ही रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'दिनकरी तरङ्गिणी' का प्रणयन किया था, जो प्रणेता के नाम से 'रामरुद्री' के नाम से प्रख्यात हुई थी ।

अन्नं भट्ट (१७०० ई.) अन्नं भट्ट ने दीपिका टीका सहित तर्कसंग्रह नामक लघुकाय ग्रन्थ की रचना की थी, जो न्याय वैशेषिक के क्षेत्र में अत्यन्त प्रख्यात है । इस ग्रन्थ के अनेक सम्पादन हुए हैं, जिनमें बोदास (Bodas) का सम्पादन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध है । अन्नंभट्ट के पिता का नाम अद्वैत विद्याचार्य था । ये तैलंग ब्राह्मण थे । इन्होंने काशी में अनेक शास्त्रों का स्वाध्याय किया था । तर्क संग्रह की प्रसिद्ध टीकाओं में, गोबर्धन मिश्र की न्यायबोधिनी, श्री कृष्ण धूजटी दीक्षित की सिद्धान्तचन्द्रोदय, चन्द्रसिंह की पदकृत्य, नीलकण्ठ भट्ट की नीलकण्ठी तथा उनके

---

१. देखें, मिथिलावृति, पृ. ६५ तथा चन्द्रानन्द वृति, अष्टम परिशिष्ट, पृ. २२४

२. Bhaṭṭavādīndra, The Vaiśeṣika, J.O.R. Vol. X, No. 1, P.P 22-31.

आत्मज लक्ष्मी नृसिंह की भास्करोदया टीका न्याय वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध है।

वैशेषिक की पदार्थमीमांसा

पदार्थमीमांसा वैशेषिक का प्रमुख प्रतिपाद्य है। प्रशस्तपाद कृत वैशेषिकसूत्र का भाष्य ही पदार्थधर्मसंग्रह के नाम से प्रसिद्ध है। स्वयं भाष्यकार प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य को भाष्य न कहकर 'पदार्थधर्मसंग्रह' कहा है।[१]

पदार्थमीमांसा करते हुए प्रशस्तपाद ने पदार्थ बोध को निःश्रेयस का हेतु मानते हुए कहा है कि द्रव्य, गुण, कर्भ, सामान्य, विशेष तथा समवाय, इन **षट् पदार्थों** का साधर्म्य एवं वैधर्म्य से होने वाला यथार्थ ज्ञान निःश्रेयस का हेतु होता है और यह ईश्वर के उपदेश अर्थात् प्रेरणा से प्रतिपादित धर्म से ही सम्भव है।[२] न्याय-कन्हली के अनुसार ज्ञानकर्म समुच्चय को निःश्रेयस का हेतु कहा गया है।

अब यहां द्रव्यादि षट् पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करेंगे। अभाव के सम्बन्ध में तत्पश्चात् विचार किया जाएगा।

वैशेषिक सूत्र के अनुसार पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन, ये नौ द्रव्य माने गए हैं। पृथिवी आदि का द्रव्य होना, उनकी सामान्य संज्ञा है, तथा पृथिवीत्व आदि विशेष संज्ञा हैं।

पृथिवी—पृथिवी आदि पांच भौतिक तत्त्व हैं। **पृथिवी** आदि का इतरव्यावर्त्तक गुण गन्ध है—"गन्धवती पृथिवी"। कतिपय इतर गुण, जैसे रूप, रस, स्पर्श एवं संख्या भी पृथिवी में उपलब्ध हैं। नित्य एवं अनित्य रूप से पृथिवी के दो विभाग किए गए हैं। कारणरूप परमागु में विद्यमान पृथिवी नित्य है तथा अनेकानेक भौतिक पदार्थों में कार्यरूप से वर्तमान पृथिवी का स्वरूप अनित्य है।

---

१. प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिंकणादमन्वतः।
पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्ये महोदयः॥ मङ्गलाचरण, प्र.पा.भा.

२. द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः। तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव। प्र.पा.भा. १-१-१

कार्यरूप अनित्य पृथिवी के तीन रूप उपलब्ध हैं। ये तीन रूप शरीर, इन्द्रिय तथा विषय हैं।

अप् (जल) द्वितीय द्रव्य जल है। जल शीत स्पर्श से विशिष्ट है।[१]

तेज (अग्नि) ऊष्ण स्पर्श से विशिष्ट द्रव्य तेज अथवा अग्नि कहलाता है।

जल तथा अग्नि, ये दोनों भी पृथिवी के समान नित्यानित्य भेद से दो प्रकार के हैं। कार्यरूप से विद्यमान अनित्य जल एवं अग्नि के शरीर, इन्द्रिय तथा विषयजन्य भेद हैं।

वायु—नीरूप, किन्तु जिसका स्पर्श किया जा सके, वह द्रव्य वायु है। रूप रहित होने से वायु की पृथिवी, अप् तथा तेज से भिन्नता है। वायु आकाश, काल, दिक् आत्मा एवं मन से भी, इस अर्थ में भिन्न हैं किन्तु वायु स्पर्शवान् है, किन्तु आकाशादि स्पर्श रहित हैं। वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो नहीं होता, किन्तु त्वाक् प्रत्यक्ष तो स्पष्ट ही है, जैसा कि नव्यनैयायिकों ने स्वीकार किया है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष के लिए उद्भूतरूपता आवश्यक है, जो वायु में नहीं है। अत: प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार वायु का प्रत्यक्ष अनुमानित है।[२] इसके विपरीत नव्यनैयायिकों के अनुसार वायु में औष्ण्य एवं शैत्य से रहित, उद्भूत स्पर्श वर्तमान है, जो उससे प्रत्यक्ष का कारण है।[३]

आकाश—आकाश का शब्द गुण है एवं आकाश शब्द का समवायिकारण है। आकाश कालादि के समान विभु है। इससे काल का नित्यत्व स्पष्ट है। तर्कभाषाकार केशव मिश्र के अनुसार शब्द की ग्राहक इन्द्रिय अर्थात् कान भी आकाश ही है।[४] इस प्रकार कान में जो आकाश रहता है, उसी से शब्द का ज्ञान

---

१. शीतस्पर्शवत्यापः।

२. सत्यपि द्रव्यत्वे महत्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः। वै.सू.४-१-७

३. तस्यां प्रभां पश्यामीतिवद् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद् वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भवत्येव। मुक्तावली, का.४

४. कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव। तर्कभाषा, प्रमेय निरुपण

होता है । आकाश की सिद्धि अनुमान से होती है, किन्तु भाट्ट मीमांसक के अनुसार आकाश का प्रत्यक्ष होता है ।[१]

काल—**काल** भी आकाशवत्, एक, नित्य विभु एवं व्यापक है । काल आकाश के समान प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं है । वस्तुत: काल प्रत्यक्ष ईश्वर ही है ।[२] किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से काल के पूर्व पर, प्रात:, मध्याह्न, सायं एवं रात्रि आदि भेद हैं । तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने दिक् (दिशा) के विपरीत काल को परत्त्व एवं अपरत्त्व से अनुमेय कहा है ।[३] उदाहरणार्थ, यदि राम, श्याम की अपेक्षा आयु में बड़ा है, अथवा यों कहें कि राम का श्याम की अपेक्षा काल का अधिक सम्बन्ध है तो काल की दृष्टि से राम, श्याम की अपेक्षा पर होगा तथा श्याम, आयु में कम होने के कारण अर्थात् काल का कम सम्बन्ध होने से अपर कहलाएगा ।

दिक्—दिक्, आकाश के समान, विभु, एक, नित्य एवं अमूर्त है, किन्तु उपाधि के कारण दिक् के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं ईशानादि कोणों के भेद हैं । दिक् भी कालविपरीत, परत्व एवं अपरत्व से अनुमेय है ।[४] उदाहरणार्थ जिस के साथ अधिक देश का सम्बन्ध है, या यों कहा जाय, कि जो अधिक दूरस्थिति है, वह दैशिक दृष्टि से पर कहा जाएगा, तथा जिसके साथ देश का अल्प सम्बन्ध है, या जो समीपस्थ है, वह दैशिक दृष्टि से अपर कहलाएगा । दिक् का काल विपरीतत्व इस प्रकार समझना चाहिए—वृद्ध पुरुष युवक की अपेक्षा कालिक दृष्टि से पर है, किन्तु यदि वह युवक की अपेक्षा समीप बैठा हो तो उसमें अपर व्यवहार होगा । यदी दिक् का काल विपरीत्व है । दिक्, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग एवं विभाग, इन पांच गुणों से युक्त है । दिक् एवं आकाश यह भेद समझना चाहिए कि आकाश केवल शब्द का निमित्त कारण है, जबकि दिक् किसी भी वस्तु का समवायि

---

१. मानमेयोदय, पृ. १८८ (अड्यार, मद्रास संस्करण)

२. काल: कलयति भूतानि काल: संहरते प्रजा: । काल: सुप्तेषु जागर्ति काल: प्रत्यक्ष ईश्वर: ।

३. कालोऽपिदिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेय: । तर्कभाषा, प्रमेयनिरुपण

४. कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक् । तर्कभाषा, प्रमेयनिरुपण ।

कारण न होकर सब कार्यों का निमित्त कारण है। इसके अतिरिक्त आकाश का श्रावण प्रत्यक्ष होता है, किन्तु दिक् मात्र अनुमेय ही है।

आत्मा—वैशेषिक का आत्मा आत्मत्व सम्बन्धवान् है। आत्मा का आत्मत्व सम्बन्ध इसलिए है कि व्यक्ति प्रिय एवं अप्रिय वस्तु से सुखित्व एवं दुःखित्व का अनुभव करता है। कणाद ने वैशेषिक सूत्र[१] के अन्तर्गत आत्मा के लिङ्गों का वर्णन किया है।[२] ये लिङ्ग व्यापार प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्न है।

(१) व्यापार प्रिय वस्तु के ग्रहण एवं अप्रिय वस्तु के त्याग की प्रवृत्ति प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में देखने में आती है। इस प्रवृत्ति व्यापार का आधार चेतन पदार्थ ही हो सकता है। निदर्शनार्थ, रथ के चलनादिव्यापार से उसके अन्दर स्थित चेतन सारथि का अनुमान होता है। कठोपनिषद् में भी आत्मा को रथी एवं शरीर को रथ कहा है।[३] इस प्रकार व्यक्ति के अन्तर्गत वर्तमान चेतन पदार्थ आत्मा ही है।

(२) **प्राणापान**—प्राणापान की प्रक्रिया से भी आत्मा के स्वरूप का बोध होता है। उदाहरण के लिए, व्यक्ति के शरीर में प्राणापान के फलस्वरूप श्वास-प्रश्वास से शरीर का फूलना तथा संकुचित होना, चेतन पदार्थ की सत्ता का द्योतन करता है। यह चेतन पदार्थ आत्मा ही है।

निमेषोन्मेष निमेष (आंख की पलक का गिरना) तथा उन्मेष (पलक का उठना) चेतन व्यक्ति में ही सम्भव है। इस प्रकार यह चेतन तत्त्व ही आत्मा है।

(३) **जीवन**—शरीर में व्रण का होना तथा उसका भरना, **जीवन** का परिचायक है तथा यह जीवन आत्मा की स्थिति में ही सम्भव है।

---

१. आत्मत्वाभिसम्बन्धवानात्मा। त.भा.प्रमेय निरूपण

२. प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतिइन्द्रियान्तर-विकारसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। वै.सू.३-२-४

३. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। कठ.३/३

(४) **मनोगति**—अनुभव तथा स्मृति का आधार **मनोगति** है । यह मनोगति चेतन आत्मा में ही हो सकती है । उदाहरण के लिए किसी स्वादिष्ट वस्तु को देखकर उसके प्रति लालायित होना अनुभव तथा स्मृति का मेल है, जो एक मनोगति है, तथा जिसका अधिष्ठान चेतन आत्मा है ।

सुख-दुःख-इच्छादि

व्यक्ति में बुद्धि सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण हैं । इन गुणों का कोई आश्रय होना चाहिए । यह आश्रय चेतन आत्मा ही है ।

आकाश के समान आत्मा नित्य एवं विभु है तथा प्रत्येक शरीर में सुख दुःखादि की विचित्र स्थिति होने के कारण आत्मा की भिन्नता है ।[१] सुखदुःखादि के अन्तर्गत, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म बुद्धि तथा संस्कार ये नौ शेष गुण आते हैं । इसके अतिरिक्त, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये पांच आत्मा के सामान्य गुण हैं । प्रत्येक शरीर में बाल्यावस्था, तारुण्य एवं वृद्धावस्था का भेद होने के कारण भी आत्मा की भिन्नता एवं अनेकता सिद्ध होती है । यहां यह निर्देश्य है कि वेदान्त आत्मा की अनेकता न मानकर एकता ही स्वीकार करता है ।[२] इसके अतिरिक्त आत्मा के अनुभव कर्त्ता एवं साधक होने के कारण तथा इन्द्रिय के साधन एवं माध्यम होने के कारण, आत्मा को इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता ।

नैयायिकों ने आत्मा का मानस प्रत्यक्ष स्वीकार करते हुए, आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध मानकर 'अहमस्मि' के अनुभव को आत्मा का मानस प्रत्यक्ष कहा है । 'अहमस्मि' स्वरूप अनुभव, अहं प्रत्यक्ष रूप से शुद्ध चैतन्य में आत्मा का अनुभव है । कणाद ने भी कहा है कि 'अहम्' (मैं) इसमें आगम (शब्द) प्रमाण न होने से यह प्रतीति का विषय है ।[३] नैयायिकों का एक वर्ग चैतन्य को मानस प्रत्यक्ष

---

१. सुखदुःखादिवैचित्रयात् प्रतिशरीरं भिन्नः । तर्कभाषा, प्रमेयनिरुपणम् ।

२. अनुमेयत्वमेवास्तु लिङ्गेनेच्छादिनात्मनः, न्यायमञ्जरी, पृ. ४३४

३. अहमिति शब्दरूपव्यतिरेकान्नागमिकम् । वै.सू. ३-२-९

का विषय न स्वीकार कर हर्ष एवं विषाद की अनुभूति में अनुभवकर्ता आत्मा का प्रत्यक्ष सिद्ध होना स्वीकार करते हैं । इन दोनों दृष्टियों में समन्वय प्रस्तुत करते हुए जयन्तभट्ट ने आत्मा का मानस प्रत्यक्ष मानते हुए भी उसका अनुमेय होना ही विशेष रूप से स्वीकार किया है ।

मन—मन नवम द्रव्य है । सूत्रकार ने मन को परिभाषित करते हुए कहा है कि आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष होने पर भी, ज्ञान का होना तथा न होना मन का बोधक है ।[१] तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु का ज्ञान मन के द्वारा ही होता है । वस्तु के समीप स्थित होने पर भी नेत्रेन्द्रिय द्वारा तब तक उसका ज्ञान नहीं होता, जब तक कि मन एकाग्र नहीं होता । सांख्य दर्शन के अन्तर्गत भी (मनोऽनवस्थानात्) कहकर वस्तु के ज्ञान में मन का अनवस्थित होना बाधक माना है ।[२] प्रशस्त पाद ने मन की सिद्धि में निम्नलिखित तीन हेतु प्रस्तुत किए हैं—

१. आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय के होने पर भी ज्ञान, सुख आदि कार्य अनिवार्य रूप से नहीं देखे जाते । अत: आत्मा आदि के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु की अपेक्षा आवश्यक है तो यह हेतु मन ही है ।

२. ज्ञानप्रक्रिया के अन्तर्गत श्रोत्रादि के अतिरिक्त स्मृति के द्वारा भी ज्ञात विषयों का ज्ञान होता है तथा यह स्मृति ज्ञान मन के विना सम्भव नहीं है । अत: मन की सत्ता स्वीकार करना अनिवार्य है ।

३. श्रोत्र आदि द्वारा ग्राह्य शब्दादि की अपेक्षा सुखदु:खादि के साधन की अपेक्षा अनिवार्य है, तथा यह साधन मन है ।[३]

कणाद ने मन के आठ गुणों का निर्देश किया है । ये आठ गुण, संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व एवं संस्कार हैं । प्रयत्न तथा ज्ञान का अयौगपद्य है, अत: मन की एकत्व संख्या सिद्धि होती है । इसीलिये मन का पृथक्त्वा भी सिद्ध है । मन आत्मा के समान विभु न होकर अणुपरिमाण वाला है ।

---

१. आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् । वै.सू. ३-२-१

२. सांख्यकारिका, ७

३. देखें. प्र.पा.भा. ३-२-१

मन का सर्पण (अग्रिम शरीर से संयोग) एवं उपसर्पण (पूर्व शरीर से विभाग) होने के कारण, संयोग एवं विभाग सिद्ध है । इसी प्रकार मन के मूर्त्त से अर्थात् परिच्छिन्न परिमाण वाला होने से उसके परत्व अपरत्व एवं संस्कार (वेग) सिद्ध होते हैं । मन के स्पर्शवान् न होने से वह किसी अन्य द्रव्य का उत्पादक नहीं है तथा क्रियावान् होने से मूर्त्त है । मन अचेतन एवं अज्ञ है, अन्यथा आत्मा के समान वह भी विग्रहवान् होता । मन कारण रूप होने से पदार्थ अर्थात् आत्मा के लिये है । गुणवान् होने से मन द्रव्य है तथा आत्मा के प्रयत्न एवं अदृष्ट (धर्माधर्म), से परिगृहीत होने के कारण आशुसञ्चारी अर्थात् शीघ्र गतिवाला है ।[१] इस प्रकार वैशेषिक दर्शन के अन्तर्गत नवद्रव्यों का निरूपण किया गया है ।

दशम द्रव्य तम—

तम (अन्धकार) को द्रव्य क्यों न माना जाय, इस सम्बन्ध में भी वैशेषिक में विचार किया है । तम को द्रव्य मानने के पक्ष में तर्क दिया जाता है कि तम भी प्रत्यक्ष का विषय है । प्रत्येक व्यक्ति अन्धकार को देखकर कहता है कि वहां अन्धकार है, अत: वहां नहीं जाना चाहिए इत्यादि । इस प्रकार अन्धकार का रूप भी सिद्ध होता है एवं वह क्रियावान भी सिद्ध होता है । अन्धकार का अन्तर्भाव न पृथ्वी (द्रव्य) के अन्तर्गत किया जा सकता है, और न जलादि द्रव्य के अन्तर्गत वह इसलिये कि पृथ्वी गन्धवती है, किन्तु अन्धकार में गन्ध नहीं है अत: अन्धकार पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता । अन्धकार नीलरूप वाला है, अत: वह जल भी नहीं हो सकता इसके अतिरिक्त तम के प्रत्यक्ष में आलोक निरपेक्ष चक्षु कारण है ।[२]

वैशेषिक के सिद्धान्तमत के अनुसार उपर्युक्त्य पक्ष समुचित्य नहीं कहा जा सकता प्रथम तर्क तो यह है कि जब प्रकाश का अभाव मानने से ही अन्धकार की उपपत्ति होने से अन्धकार को अतिरिक्तदशम् द्रव्य के रूप में स्वीकार करना अन्याय्य है । जहां तक यह कहना है कि अन्धकार की रूपवत्ता की प्रतीति होती है,

---

१. प्र.पा.भा.३-२-१

२. तच्चगन्धशून्यत्वान्न पृथ्वी, नीलरूपत्वाच्च न जलादिकं तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेत् । न्या. सि. मु. द्रव्यनिरूपण ।

तो यह भ्रम है । इसी प्रकार अन्धकार की कर्मवत्ता की प्रतीति भी दीपादि के संचार रूप उपाधि के कारण भ्रमात्मक ही है । इस प्रकार उक्त अनुमान स्वरूपासिद्धि रूप दोष ग्रस्त होने के कारण अन्धकार के द्रव्यत्व का साधक नहीं हो सकता ।[१] साथ ही यह भी चिन्त्य है कि अन्धकार को स्वतन्त्र द्रव्य मानने पर उसके अनन्त अवयव अनन्त प्राणभाव एवं अनन्त ध्वंस की कल्पना से गौरव होगा । अत: अन्धकार को पृथक् द्रव्य नहीं माना जा सकता । जिस प्रकार सुवर्ण का तेज में अन्तर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार प्रकाश के अभाव से ही अन्धकार की उपपत्ति सम्भव है ।

गुण— कणाद ने गुण का लक्षण करते हुए कहा है कि द्रव्य के आश्रित होना, गुण रहित होना, संयोग-विभाग का किसी की अपेक्षा के बिना कारण न होना, गुण का लक्षण है ।[२] कर्म संयोग एवं विभाग के कारण होता है, किन्तु गुण में संयोग-वियोग नहीं है, अत: उसमें क्रिया भी नहीं है ।[३] वैशेषिक सूत्र के अन्तर्गत १७ गुण बतलाए गए हैं । ये सत्रह गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व बुद्धि, सुख, दु:ख इच्छा. द्वेष तथा प्रयत्न हैं ।[४] प्रशस्तपाद ने इनमें गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द और जोड़े हैं, इस प्रकार वैशेषिक में कुल मिलाकर गुणों की संख्या चौबीस है । समस्त गुणों में वर्त्तमान गुणत्व नामक एक जाति है, किन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं है, क्योंकि गुरुत्वादि गुणों के प्रत्यक्ष न होने से उनमें गुणत्व का प्रत्यक्ष असम्भव है । अत: समस्त गुणों में जाति अनुमान से सिद्ध है ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व द्रवत्व, स्नेह, वेग तथा स्थिति स्थापक ये मूर्त्त पृथ्वी जल, तेज, वायु, तथा मन के गुण हैं ।[५] धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, बुद्धि,

१. कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव । न्या.सि.मु.द्रव्यनिरूपण मधुवनी, दरभंगा १९३९

२. द्रव्याश्रयी अगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् । वै.सू.१-१-१६

३. अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः । मुक्तावली का.८९

४. वै.सू.१-१-६

५. रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् । द्रवत्वं स्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी । न्या. सि.मु.का.८६-८७

सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, एवं यत्न ये दश **अमूर्त्त के गुण** हैं ।[१] संख्या, परिमाण पृथक्त्व संयोग तथा विभाग, ये पांच गुण, मूर्त्त पृथ्वी जल, तेज, वायु एवं मन, तथा अमूर्त आकाश, काल दिक् तथा आत्मा, केवल इन द्रव्यों में रहते हैं ।[२] संयोग, विभाग, संख्या द्वित्वादि, संख्या द्विपृथक्त्वादि, ये चार अनेक में रहने वाले गुण हैं ।[३] किन्तु उक्त चार गुणों से भिन्न गुण (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्व, परिमाण, एक पृथक्त्व, परत्व अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रव्त्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट, एवं शब्द ये एक-एक वस्तु में रहने वाले गुण हैं ।[४]

कर्म—कर्म पदार्थ भी गुण के समान द्रव्य में आश्रित धर्म है । कणाद ने कर्म का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि एक द्रव्य में होना, गुणरहित होना, तथा संयोग विभाग का अनपेक्ष कारण होना, कर्म का लक्षण है ।[५] कर्म के स्वरूप का अन्तिम निर्णय सम्भव नहीं है । कर्म ही वस्तुओं के संयोग विभाग का स्वतन्त्र कारण है । कर्म के पांच भेद माने गये हैं, जो उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन प्रसारण एवं गमन हैं ।

इस स्थल पर गुणों के स्वरूप का संक्षिप्त निरूपण आवश्यक है ।

१. रूप—चक्षु द्वारा ग्राह्य विशेष गुण **रूप** है ।[६] यह पृथ्वी जल एवं तेज में रहता है ।

२. रस—रसना इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विशेष गुण **रस** है, यह पृथ्वी एवं जल वर्ती है ।[७]

---

१. न्या. सि. मु. का. ८७-८८

२. न्या. सि. मु. का. ८८

३. न्या. सि. मु. का. ८९

४. अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः । न्या. सि. मु. का. ९०

५. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणाम् । वै. सू. १-१-१७

६. तत्र रूपं चक्षुमात्रग्राह्यो विशेषगुणः । त. भा. प्रमेयनिरूपण ।

७. रसो रसानेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः पृथ्वी जलवृत्तिः । त. भा. प्र. निरूपण ।

३. गन्ध—घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विशेष गुण, **गन्ध** है । यह केवल पृथ्वी में रहता है ।

४. स्पर्श— त्वक् इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विशेष गुण **स्पर्श** है । यह पृथ्वी अप, तेज एवं वायुवर्ती है ।

५. संख्या — एकत्वादि व्यवहार का हेतु **संख्या** सामान्य गुण है ।

६. परिमाण—मान व्यवहार का असाधारण कारण **परिमाण** है । यह अणु, महत् ह्रस्व तथा दीर्घ भेद से चार प्रकार का है ।

७. पृथकत्व पृथक्व्यवहार का असाधारण कारण पृथक्त्व है ।

८. संयोग — संयुक्त्यव्यवहार का हेतु **संयोग** गुण है ।

९. विमल प्रतीति का हेतु (भूत गुण) **विभाग** है ।

१०. परत्व एवं अपरत्व— पर एंव अपर व्यवहार के असाधारण कारण **परत्व** एवं **अपरत्व** हैं । ये दो प्रकार के हैं— दिक्कृत् एवं कालकृत ।

१२. गुरुत्व— आद्यपतन का असमवायि कारण गुरुत्व गुण है । आद्य पतन का अर्थ यह है कि द्वितीयादि क्षण में जो पतन होता है, उसका कारण वेग संस्कार होता है । गुरुत्व, पृथ्वी एवं जलवर्ती है ।

१३. द्रवत्व— गुरुत्व के समान ही **आद्यस्यन्दन** (प्रवाह) का असमवायिकारण द्रवत्व गुण है । यह पृथ्वी तेज एवं जलवर्ती है ।

१४. स्नेह — चिक्वणता (चिकनापन) **स्नेह** गुण है, जो जल भाग में रहने वाला है ।

१५. शब्द — **शब्द** केवल श्रोत्र द्वारा ग्राह्य है । यह आकाश का विशेष गुण है ।[१]

१६. बुद्धि— अर्थ (विषय) का प्रकाश अर्थात् ज्ञान बुद्धि गुण है ।

१७. सुख— आनन्द को **सुख** कहते हैं ।

---

१. विशेष देखें, तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपण

१८. दु:ख— पीड़ा, **दु:ख गुण** कहलाता है ।

१८. इच्छा— राग अर्थात् विषयाभिलाषा इच्छा नामक गुण है ।

२०. द्वेष — क्रोध, **द्वेष** नामक गुण है ।

२१. प्रयत्न — उत्साह प्रयत्न नामक गुण है ।

२२. **धर्म** एवं **अधर्म**— सुख तथा दु:ख के असाधरण कारण हैं ।

२४. संस्कार **संस्कार** व्यवहार का असाधारण कारण संस्कार गुण है । वेग संस्कार भावना तथा स्थिति स्थापक भेद से तीन प्रकार का है । वेग, पृथ्वी अप, तेज, वायु एवं मन में रहने वाला है, तथा क्रिया का हेतु है । दूसरा, भावना नामक संस्कार, केवल आत्मा में रहने वाला, अनुभव जन्य तथा स्मृति का स्वरूप है । स्थिति परक संस्कार स्पर्श युक्त द्रव्यविशेषों में रहनेवाला तथा अन्यथा भूत अपने आश्रय (भूत) धनुष आदि को पुन: पूर्व अवस्था में लाने वाला होता है ।[१]

सामान्य— **सामान्य** को जाति भी कहते हैं । सामान्य नित्य एवं अनेकानुगत होता है ।[२] उदाहरणार्थ, अनेक मनुष्यों में रहनेवाली मनुष्यत्व जाति एक एवं नित्य है । सामान्य का आधार भिन्न भिन्न वस्तुओं की अनुवृत्ति अर्थात् एकाकार प्रतीति है । सामान्य, द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहने वाला, नित्य, एक एवं अनेकवृत्ति होता है । यह, पर एवं अपरभेद से दो प्रकार का है । इनमें अधिक विषयवाला (अर्थात् व्यापक) होने से सत्ता (द्रव्य गुण तथा कर्म, इन तीनों में रहने वाली सत्ता जाति । पर सामान्य है । यह अनुगत प्रतीति का हेतु होने से सामान्य ही है, विशेष कदापि नहीं । इस प्रकार इस से अधिक देश में रहने वाला, और कोई सामान्य नहीं है । इसके विपरीत द्रव्यत्वादि की अल्प देश में वृत्ति होने के कारण ये अपर सामान्य है । ये द्रव्यत्वादि व्यावृत्ति अर्थात् भेद बुद्धि का हेतु होने से सामान्य होते हुए भी विशेष होते हैं ।[३]

---

१. गुणों के स्वरूपनिरूपण के लिये विशेष देखें, तर्कभाषा, प्रमेय निरूपण ।

२. नित्यमनेकानुगतं सामान्यम् ।

३. तत्र व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेष:, तर्कभाषा, प्रमेय निरूपण ।

बौद्धों का मत (अपोहवाद) —बौद्ध सामान्य को न स्वीकार कर, अपोह को स्वीकार करते हैं । क्षणभङ्गवादी होने के कारण बौद्ध जाति के नित्यत्व को नहीं स्वीकार करते । किन्तु जाति अर्थात् सामान्य को न मानने पर एकाकार प्रतीति किस प्रकार होगी इस प्रश्न का उत्तर अपोह के द्वारा देते हुए बौद्ध कहते हैं कि अपोहं का अर्थ अतद्व्यावृत्ति अथवा 'तद्भिन्न भिन्नत्व' है । अतद्व्यावृत्ति अथवा तद्भिन्न भिन्नत्व को इस प्रकार समझना चाहिए । दश घट व्यक्तियों में जो घट है । घट है, इस प्रकार की अनुमत (वारबार) प्रतीति होती है, उसका कारण घटत्व सामान्य नहीं है, वरन् उनका अघटव्यावृत्ति अथवा घटभिन्न सारे जगत में भिन्न होना ही है । 'अतत्' का अर्थ 'अघट' है, अर्थात् घट से भिन्न सारा जगत् है, एवं जगत से भिन्न घट है । इस प्रकार तद्भिन्न भिन्नत्व या अतद्व्यावृत्ति ही घटों में अनुगत प्रतीति का कारण है । यही बौद्धों का अपोह सिद्धान्त है ।

विशेष—'विशेष' पदार्थ वैशेषिक दर्शन का सर्वधिक प्रमुख पदार्थ है । यह भी कहना होगा कि 'विशेष' के आधार पर ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक प्रसिद्ध हुआ है । तर्कभाषा कार केशव मिश्र ने विशेष को परिभाषित करते हुए कहा है कि नित्य द्रव्य परमाणु आदि, में रहने वाला तथा नित्य अन्तिम भेदक धर्म विशेष कहलाता है । **'विशेष'** केवल भेदबुद्धि का प्रकाशक होता है ।[१] नित्य द्रव्य अकाशादि पञ्च है । किन्तु पथिव्यादि चार, (पृथ्वी जल तेज, एवं वायु) परमाणु रूप ही नित्य है । कार्य रूप पृथ्वी आदि नित्य हैं । इनमें रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म विशेष है । 'विशेष' को स्पष्ट करने के लिये यह कहा जाएगा कि घटादि पदार्थों का सजातीय पदार्थान्तर से जो भेद होता है, उसका उपपादन साधारणतया अवयव भेद पर आधारित है । उदाहरणार्थ एक घट की दूसरे घट से भिन्नता का कारण यह है कि दोनों घट भिन्न अवयवों (कपालों) से निर्मित हैं । ये कपाल भी इसीलिये भिन्न हैं कि उनके अवयव (कपालिकाएँ) भिन्न हैं । इसी प्रकार कपालिकाओं के भेद का कारण भी अवयव भेद ही है । इसी प्रकार आगे चलकर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक परमाणु दूसरे परमाणु से किस प्रकार भिन्न है । इस का उत्तर पूर्ववत्

---

१. विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः । व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः । तर्कभाषा, प्रमेय निरूपण ।

अवयव भेद नहीं है, क्योंकि परमाणु निरवयव है । इसीलिये परमाणुओं में भेद की स्थापना के लिये 'विशेष' की कल्पना करनी पड़ी है कि परिणामत: विशेष के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न है । क्योंकि विशेष स्वत: व्यावृत्त है, अत: विशेष के भिन्नत्व का प्रश्न उपस्थित नहीं होता । विशेष का भेदक अन्य कोई धर्म नहीं है । जैसा कि ऊपर कहा गया है, विशेष ही नित्यद्रव्यों में रहने वाला अन्तिम धर्म है ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि पृथ्वीव्यादि के अतिरिक्त शेष चार द्रव्यों में, काल तथा दिक् अभिन्न एवं एक हैं, अत: उन में भेद के स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है । जहां तक आत्मा एवं मन की बात है, उनके भेदक धर्म उनके अपने गुण अदृष्ट धर्म, अधर्म संस्कार आदि ही हो जाते हैं । अत: उनमें भी भेद के स्वीकरने की अनपेक्षा ही है ।

समवाय— अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय कहलाता है । अयुतसिद्धत्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयो: ।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥

अर्थात् वे वही अयुतसिद्ध हैं जिन में से एक अविनश्यत् अवस्था में दूसरे के आश्रित रहता है । उदाहरणार्थ, अवयव, अवयवी, गुण गुणी क्रिया क्रियावान् जाति व्यक्ति तथा नित्य द्रव्य एवं विशेष, अयुतसिद्ध है, क्योंकि अवयवी आदि अविनश्यत् अवस्था में क्रमश: अवयवादि के आश्रित रहते हैं । इसके विपरीत विनश्यत् अवस्था में तो अवयवी आदि निराश्रित हो जाते हैं, जिस प्रकार वस्तु के नष्ट होने पर पट रूप अवयवी नष्ट हो जाता है, या जैसे, घटादि आश्रय के नष्ट होने पर उसमें रहने वाले रूपादि गुण विनश्यता काल में निराश्रित हो जाते हैं । यह गुण गुणी का उदाहरण है । विनश्यत्ता को स्पष्ट करतेहुए, तर्कभाषा कार ने कहा है कि विनश्यत्ता, विनाश के कारण की समस्त सामग्री का एकत्र होना है ।[१]

---

१. विनश्यत्ता तु विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम् ।

अभाव— अभाव अन्तिम अर्थात् सप्तम पदार्थ है । वैशेषिक सूत्र के अन्तर्गत अभाव का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत किया गया है ।[१] वैशेषिक सूत्र के तर्कानुसार जिस प्रकार उत्पन्न होने वाला घटादि कार्य कारण की सत्ता का बोधक होताहै, उसी प्रकार उत्पन्न न होने वाला कार्य अपने कारण के अभाव का बोधक है । किन्तु यहां यह तथ्य अविस्मरणीय है कि योग्यानुपलब्धि से ही अभाव का अनुमान होता है । एतदनुसार यदि वस्तु उपलब्धि के योग्य होती है, तभी उसकी अनुपलब्धि से उसके अभाव का अनुमान लगाया जा सकता है, अन्यथा नहीं । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, प्रशस्तपाद भाष्य के अन्तर्गत भी केवल द्रव्यादि छः पदार्थ ही माने गए हैं ।[२] वात्स्यायन भाष्य (२-२-२) एवं न्यायवार्तिक के अन्तर्गत भी अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव किया है । किन्तु वाचस्पति मिश्र ने अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में किया है । परञ्च उदयनाचार्य ने प्रशस्त पाद भाष्य की व्याख्या में अभाव का अन्तर्भाव कहीं प्रत्यक्ष में तो कहीं अनुमान में किया है ।

यहां यह वक्तव्य है, कि जैसा कि ऊपर कहा गया है, यद्यपि प्रशस्तपाद भाष्य में अभाव को स्वतन्त्र के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है, किन्तु नास्ति (नहीं है) इस प्रतीति के विषय को अनुमान ग्राह्य कहना, यह सिद्ध करना है कि प्रशस्तपाद को अभाव की सत्ता अभीष्ट है । भातृमीमांसक एवं उत्तरकालिक वेदान्ती (नव वेदान्ती) अभाव को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करते हैं ।[३]

प्रथमतः अभाव के दो भेद हैं—तादात्म्याभाव और संसर्गाभाव। तादात्म्याभाव को ही अन्योऽन्याभाव एवं इतरेतर भाव भी कहते हैं । यह सामान्य के समान अविनाशी एवं नित्य है ।[४] घट में पटाभाव एवं पट में घटाभाव अन्योऽन्याभाव अथवा इतरेतराभाव का निदर्शन है । संसर्गाभाव के तीन भेद हैं—प्रागभाव प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव । उदाहरणार्थ, कार्य की उत्पत्ति से पूर्व

---

१. अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् । तर्कभाषा,प्रमाणनिरूपणम् ।

२. प्र.पा.भा.१-१-१

३. द्रष्टव्य,शास्त्रदीपिका १-१-५,मानमेयोदय तथा वेदान्त परिभाषा ।

४. इतरेतराभावोऽपि सामान्यवद् अविनाशित्वात् नित्यः। किरणावलि ।

कारण में कार्य का अभाव प्रागभाव है, जो अनादि एवं सान्त हैं। कार्य का नाश हो जाने पर उसका प्रध्वंसभाव होता है,जो किसी पदार्थ का त्रैकालिक अभाव उसका अत्यन्त भाव है, जैसे वायु में रूप का अभाव। यह अनादि तथा अनन्त है। भूतल में घटाभाव है, इस उदाहरण में भी अत्यन्ताभाव है। यद्यपि यहां घट तथा घट के संसर्ग का अत्यन्त अभाव नहीं है, तथापि जो किसी घट का संसर्ग विशेष होता उसका तो अत्यन्ताभाव ही है। इस प्रकार के अभाव में घट आदि के संसर्ग (सम्बन्ध संयोग आदि) का अभाव रहता है। अत: यह संसर्गाभाव कहलाता है। न्याय वैशेषिक के अन्तर्गत पदार्थ मीमांसा की यही प्रक्रिया है।

सृष्टिसंहारप्रक्रिया एवं परमाणुकारणवाद—सृष्टि एवं उसके संहार (प्रलय) का पुराणों के अन्तर्गत विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। सूर्य के उत्तगयण का समय देवों का दिन है- दक्षिणायन रात्रि, तथा ऐसे ३६० दिन का देवों का एक वर्ष होता है। इस प्रकार के द्वादश सहस्र वर्षों का चतुर्युग होता है, तथा एक सहस्र चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने ही समय ब्रह्मा की रात्रि होती है। इस प्रकार ब्रह्मा के सौ वर्षों के अन्त में प्रलय होता है। प्रलय का अर्थ है — अदृष्ट के व्यापार का रुक जाना। अदृष्ट का व्यापार रुक जाने पर परमेश्वर की इच्छा से आत्मा और परमात्मा के संयोग से परमाणुओं में कर्म होता है। उस कार्य से विभाग होता है एवं परमाणुओं के परस्पर संयोग का नाश हो जाता है। परमाणुओं के संयोग की निवृत्ति होने पर शरीर तथा इन्द्रियों का परमाणु पर्यन्त विभाग (विनाश) हो जाता है। विभक्त हुए परमाणु एवं धर्म अधर्म के संस्कार से युक्त आत्मा उतने ही समय तक स्थित रहते हैं, जितने समय तक सृष्टि रही[१]।

उपर्युक्त प्रक्रम के अनुसार ही यहां यह वक्तव्य है कि परमाणुओं का संयोग नाश होने पर पृथ्वी आदि का नाश हो जाता है, किन्तु पूर्व पूर्व तत्व के नाश के समय अग्रिम अग्रिम तत्व विद्यमान रहता है, जैसे पृथ्वी का नाश होने पर, जलादि तत्व शेष रहते हैं। अन्त में अव्यक्त आकाश मात्र शेष रहता है। यही प्रलयावस्था है।

---

१. ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते धर्माधर्मसंस्कारानुविद्धाश्चात्मानस्तावन्तमेव कालम्। प्रशस्तपाद भाष्य, पृ.४५ (Indo-Vision, Gaziabad, 1984)

जहां तक सृष्टि की प्रक्रिया की बात है, जीवों के कल्याणार्थ परमेश्वर में सृष्टि की उत्पत्ति की इच्छा उत्पन्न होती है। जिसके फलस्वरूप सत् आत्माओं में स्थित व्यापारयुक्त (वृत्तिलब्ध) धर्म अधर्म (अदृष्ट) के निमित से होने वाले उन (तत् -तत् आत्माओं) के संयोग से वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होने पर, उन परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्वयणुकादि की सृष्टि होती है। इस प्रक्रिया के अनुरूप परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होने पर, उन परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक उत्पन्न होता है, तथा तीन द्वयणुकों से त्र्यणुक बनता है, जो महत परिमाण वाला होता है। त्र्यणुकों से महान् परिमाण वाला वायु उत्पन्न होता है। वायु से कार्य रूपजल, (समुद्र) जल से कार्य रूप पृथ्वी तथा **तेज** की सृष्टि होती है।[१] महाभूतों के इस उत्पत्तिक्रम के सम्बन्ध में व्याख्याकारों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

भूतसृष्टि का समवायिकारण परमाणु है, असमवायिकारण परमाणुसंयोग हैं तथा निमित्तकारण महेश्वर की सिसृक्षा के पश्चात् आत्माओं में स्थित अदृष्टचों का व्यापार युक्त होकर आत्माओं तथा परमाणुओं का संयोग होता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि जीव अपने पूर्व जन्म के धर्मकर्मानुसार सांसारिक पदार्थों के भोग के लिये तत् तत् योनियों कुलों एवं देश आदि में जन्म ग्रहण करते हैं। न्याय वैशेषिक के अन्तर्गत सृष्टि की यही संक्षिप्त प्रक्रिया है।

संहार की प्रक्रिया— वैशेषिक की संहार प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रथम कारण का विनाश होता है, तत्पश्चात् कार्य का। अतएव ये सृष्टि प्रक्रिया के समान संहारार्थ परमाणु में ही क्रिया मानते हैं, किन्तु परमाणु तो नित्य है, इसलिए वैशेषिक में परमाणुओं के संयोग का नाश होता है। इसके पश्चात् द्वयणुक रूप कार्य का तथा फिर त्र्यणुक एवं चतुरणुक रूप कार्य एवं अन्य कार्यों का नाश होता है। न्यामत इसके विरुद्ध है। इसके अनुसार कार्यरूप द्रव्य (घटादि) का नाश एक बार में ही आघात मात्र से हो जाता है। कार्यरूप द्रव्य के नष्ट होने पर उसके गुण नष्ट हो जाते

---

१. प्रशस्तापाद भाष्य पृ.४६

हैं। आघात पहुंचने पर घट के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, तत् पश्चात् जैसा कि ऊपर कहा गया है, परमाणु संयोग आदि का नाश होता है।

विद्या एवं अविद्या— **विद्या** (ज्ञान) एवं **अविद्या** (अज्ञान) का निरूपण सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में वर्तमान है। विद्या के चार भेद हैं — प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्ष।आर्षज्ञान से प्रातिभज्ञान का आशय है। उदाहरणार्थ, वैदिक ज्ञान के साक्षात् कर्ता ऋषियों को इन्द्रिय एवं अर्थ सन्निकर्ष के बिना ही भूत एवं भविष्यत् का ज्ञान होता था।

संशय एवं विपर्यय वैशेषिक के अनुसार न्याय के समान ही अविद्या स्व रूप ही हैं। इसके अतिरिक्त वैशेषिक में अनिश्चयात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहा गया है।

स्वप्नज्ञान — वैशेषिक द्वारा स्वीकृत स्वप्नज्ञान की प्रक्रिया अधिक तर्क संगत है। वैशेषिक के अनुसार स्वप्न में, विभ्रान्त इन्द्रियां मन में लीन हो जाती है। मन मनोवद नाड़ी के द्वारा पुरीतत् नाड़ी में विश्राम के लिये चला जाता है। पुरीतत् नाड़ी में पहुंचाने से पूर्व मन को पूर्व संस्कारों के आधार पर, एवं वात, पित्त तथा कफ की त्रिषमतों के कारण अदृष्ट के आश्रय से बहुविध विषयों का ज्ञान होता है। यही स्वाप्निक ज्ञान कहलाता है।

कर्म का स्वरूप— वैशेषिक दर्शन में कायिक चेष्टा ही कर्म है। यह कायिक चेष्टा कभी प्रयत्नपूर्वक होती है, कभी विना प्रयत्न के। प्रयत्न पूर्वक किये गये प्रयत्न सत्प्रत्य कर्म कहलाते हैं, तथा विना प्रयत्न के किए गए कर्म असत्प्रत्यय कर्म, कहलाते हैं। पृथिव्यादि भूतों में विना प्रयत्न के किये गये कर्म अप्रत्यय कर्म कहे गये हैं।

वैशेषिक सूत्र के अन्तर्गत उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन इन पञ्चविधि कर्मों का उल्लेख किया गया है।

ईश्वर —वैशेषिकदर्शन के अनुसार ईश्वर समस्त विश्व का निमित्त कारण है। अत: एव प्रशस्तपाद भाष्य के मङ्गलाचरण में समस्तविश्व के हेतु स्वरूप ईश्वर

को प्रणाम किया गया है ।[१] ईश्वर ही निःश्रेयस के हेतु तत्वज्ञान के कारण स्वरूप धर्म का प्रेरक है ।[२] यहां यह निर्देशयोग्य है कि वैशेषिक के अनुसार बुद्धि का गुण होने के कारण ईश्वर आत्मा ही है। (ईश्वरोऽपि बुद्धि गुणत्वात् आत्मैव न्यायकन्दली) । ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से ही द्वयणुकों की बहुत्व संख्या उत्पन्न होती है । मानव को द्वयणुकों का प्रत्यक्ष ही नहीं होता, अतः उसमें उक्त सामर्थ्य का प्रश्न ही नहीं आता ।

यह उल्लेखनीय है कि धर्म अधर्म दिशा, काल आदि साधारण कारणों के होने पर ही पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है । उदयनाचार्य ने किरणावलि में इन साधारण कारणों में ईश्वर का उल्लेख किया है । किन्तु वैशेषिक में वेदों को अपौरुषेय न मानकर पौरुषेय एवं अनित्य ही माना गया है ।

मोक्ष का स्वरूप—वैशेषिक दर्शन के अनुसार निःश्रेयस (निश्चित कल्याण) ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है ।[३] निःश्रेयस का हेतु द्रव्यादि पदार्थों का तत्वज्ञान है । यह तत्वज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से प्रतिपादित धर्म से ही होता है ।[४] किरणावली में भी तत्वज्ञान को ही निःश्रेयस का हेतु कहा गया है । परन्तु न्याय कन्दली के अनुसार तत्वज्ञान को तो धर्म का कारण होने से निःश्रेयस का हेतु कहा गया है । यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः इस सूत्र में भी धर्म को ही निःश्रेयस का कारण कहा गया है । न्यायकन्दली के अनुसार ज्ञान कर्म समुच्चय को निःश्रेयस का हेतु बतलाया गया है । यहां यह तथ्य विचारणीय है कि धर्म भी ईश्वर की प्रेरणा (इच्छा विशेष) के विना निःश्रेयस का कारण नहीं बनता। अतः ईश प्रेरणा से प्रतिपादित धर्म को ही मोक्ष का मूल कारण मानना अभीष्ट है, तत्वज्ञान निःश्रेयस का साक्षात् हेतु है । इस प्रकार किरणावलि के अनुसार तत्वज्ञान को ही मोक्ष का हेतु मानना ही अभीष्ट है ।

---

१. प्रणम्य हेतुमीश्वरम्, मङ्गलाचरण, प्र. पा. भा.

२. तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव प्र. पा. भा. पृ.२

३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्मः । वै. सू. १-१-२

४. प्र. पा. भा. पृ.२

वैशेषिक की मोक्ष प्रक्रिया के अनुसार ज्ञानपूर्वक किये गए, फल की कामना रहित कर्म के सम्पादन से विशुद्ध कुल में जन्म होता है, जिससे दु:ख नाश के उपायों में जिज्ञासा होती है। तदननुसार जिज्ञासु साधक आचार्य के समीप जाकर छह पदार्थों का तत्व ज्ञान प्राप्त करता है। तत्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर साधक विरक्त हो जाता है तथा उसमें राग द्वेष का अभाव हो जाता है। रागद्वेष का अभाव होने पर तज्जन्य धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होती तथा पूर्वसञ्चित धर्म तथा अधर्म का भोग से नाश हो जाता है। ऐसी स्थिति में केवल निवृत्ति रूप धर्म शेष रह जाता है। जो ज्ञानपूर्वक किए गए निष्काम कर्म से उत्पन्न होता है। निवृत्ति रूप धर्म भी सन्तोष सुख तथा शरीर का सम्यक् ज्ञान कराकर एवं तत्वज्ञान से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव कराकर समाप्त हो जाता है।[१]

इस प्रकार वैशेषिक में धर्म के ही स्वरूप माने गये हैं एक प्रवृत्ति रूप तथा दूसरा निवृत्ति रूप। रूपधर्म संसार भावना का निमित्त बनता है। इस के विपरीत निवृत्ति रूप धर्म से जन्म मरण रूप संसार चक्र की निवृत्ति हो जाती है। जैसा कि ऊपर भी कहा गया है, निवृत्ति रूप धर्म के द्वारा परमार्थ दर्शन से उत्पन्न सुख की प्राप्ति होती है। परमार्थ दर्शन से प्राप्त सुख की यही स्थिति **जीवन्मुक्ति** की स्थिति है। कर्मभोग समाप्त होने पर जब जीव का पुनर्जन्म नहीं होता, तो यह शरीर का अनुत्पाद ही वैशेषिक के अनुसार विदेह मुक्ति की स्थिति है।[२]

जिस प्रकार ईधन को पूर्णतया जलाकर अग्नि शान्त हो जाता है, उसी प्रकार धर्माधर्म रूप बीज से आत्मा के रहित होने पर शरीरादि की निवृत्ति हो जाती है। यही उपशम अर्थात् मोक्ष की स्थिति है। इस प्रकार भारतीय षड्दर्शन में मोक्ष के सम्बन्ध में यत्किंचित् भेद अवश्य मिलता है। न्यायदर्शन में दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहा है।

---

१. सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य, रागादिनिवृत्तौ, निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्तते। प्र. भा. भा. प. २११

२. तदा निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः। पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवद् उपशमो मोक्षः। प्र. पा. भा. प-. २११

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः न्या. सू. १.१.२२) ।

सांख्ययोग के अन्तर्गत प्रकृति एवं पुरुष के असंपृक्त भाव का ज्ञान ही कैवल्य है ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि आरम्भ में भाट्टमीमांसक मुक्ति में आनन्द की स्थिति को नहीं स्वीकार करते थे, किन्तु बाद में मानमेयोदय आदि ग्रन्थों के अन्तर्गत युक्ति की स्थिति में आनन्दानुभाव को स्वीकार किया गया है । वेदान्त में भी आत्मानुभाव ही मोक्ष है । यही पूर्ण आनन्द की स्थिति है । जोभी हो, इस विषय में प्रायः मतैक्य है कि मनुष्य के पूर्वकृत धर्माधर्म ही बन्धन एवं मोक्ष के कारण बनते हैं । यहीं मापदण्ड भारतीय जीवन दर्शन का प्रमुख आधार है ।

समीक्षा एवं निष्कर्षसूत्र

न्याय वैशेषिक का युग्म होने के कारण दोनों दर्शन पद्धतियां एक दूसरे की पूरक हैं, तथा दोनों के सिद्धान्तों जैसे कार्यकारणवाद परमाणुवाद, सृष्टिसिद्धान्त पदार्थस्वरूप कर्मवाद, प्रमाण प्रमेयविचार एवं मोक्ष विचार आदि बहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है ।[१] किन्तु फिर भी दोनों दर्शन पद्धतियों में बहुत कुछ दृष्टिगोचर होता है ।

१. न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जाएगा कि जहां न्यायदर्शन का प्रमाण एवं सांसारिक विषयों के निरुपण पर विशेष बल है, वहां वैशेषिक के अन्तर्गत प्रमेय निरूपण एवं पदार्थ मीमांसा का विशेष विवेचन प्रस्तुत किया गया है । यदि न्याय मत में षोडश पदार्थों के तत्वज्ञान से मुक्ति का विधान है, तो वैशेषिक के अन्तर्गत सप्तपदार्थबोध से मुक्ति की प्राप्ति होती है । वैशेषिक में पृथ्वी आदि नौ द्रव्य माने गये हैं ।

२. जहां न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष अनुमान उपमान एवं शब्द इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है, वहां वैशेषिक में केवल प्रत्यक्ष

---

१. उत्क्षेणमवक्षेपणमाकुञ्चनप्रसारणगमनमिति कर्माणि । वै. सू. १.१.७

तथा अनुमान को ही स्वीकार किया गया है। वैशेषिक के अनुसार शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है जिस प्रकार स्वाभाविक सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्ति को लिङ्गदर्शन (धूम दर्शन) तथा व्याप्ति के स्मरण से अप्रत्यक्ष पदार्थ का अनुमान होता है। उसी प्रकार शब्द अनुमान आदि का भी अनुमान होता है।[१] किन्तु वैशेषिक दर्शन के कुछ विद्वान् शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण भी स्वीकार करते हैं।

३. न्यायदर्शन के अनुसार इन्द्रियों के अनुरूप ही चाक्षुष, श्रावण, रासन घ्राणज तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष माने गये हैं। किन्तु वैशेषिक के अन्तर्गत केवल चाक्षुष **प्रत्यक्ष** को ही स्वीकार किया गया है।

४. न्यायदर्शन के अनुसार समवाय का प्रत्यक्ष माना गया है, जबकि वैशेषिकदर्शन समवाय का ज्ञान अनुमान से मानता है।

५. पिठरपाक एवं पीलुपाक। न्यायदर्शन में पिठरपाक को स्वीकार किया गया है। जबकि वैशेषिक दर्शन पीलुपाक का पक्षपाती है। कार्यरूपपृथ्वी के कारण परमाणु ही पार्थिव परमाणु कहे जाते हैं। रूपादि से रूप रस, गन्ध एवं स्पर्श का ग्रहण होता है। इन चारों की पृथ्वी में पाकजोत्पत्ति अग्नि संयोग से होती है। इसकी प्रक्रिया में मतान्तर है। नैयायिक पिठरपाकवाद का अनुसर्ता है। पिठरपाक वाद के अनुसार जो घट आदि अवयवी कार्य द्रव्य है, उस पिठर पात्र में ही पाक (कच्चे घड़े का पक कर लाल हो जाना) हो जाता है, तथा घटादि पात्र का पूर्व रूप नष्ट होकर नवीन रूपादि उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु वैशेषिक द्वारा स्वीकृत पीलुपाकवाद के अन्तर्गत परमाणुओं में ही पूर्व रूप आदि का विनाश होकर नवीन रूपादि की उत्पत्ति होती है। यही पीलुपाकवाद हैं। पीलु का अर्थ परमाणु है।

---

१. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्। प्र. पा. भा. पृ. १५
शब्दोऽनुमानं व्याप्तिबलेनार्थगमकत्वात्। न्यायकन्दली।

नैयायिक के पिठरपाकवाद का निराकरण नैयायिक के मतानुसार कार्य द्रव्य घट आदि में ही पूर्वश्यामरूप का नाश एवं स्तय रूप श्री उत्पत्ति हो जाती है। इस मत (पीठर पाकवाद) के अनुसार परमाणु पर्यन्त घटनाश तथा परमाणुओं से ही क्रमश: घट की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा नहीं है। वस्तुत: यहां सभी दृश्य है कि घट आदि के आरम्भ के परमाणु नितान्त संयुक्त मिले हुए नहीं होते, अपितु छिद्र युक्त होते हैं। इन परमाणुओं के मध्य अग्नि के सूक्ष्म परमाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के लिये मिट्टी के घट में जब घृत् तैल या जल भरा जाता है, तो बाहर भी प्रस्रवित होता देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि घट के आरम्भक परमाणुओं के मध्य में अवकाश वर्तमान है। इस प्रकार पीलुपाकवादी या परमाणुपाकवाही वैशेषिक का यही मत समुचित मानना चाहिए कि पाक क्रिया कार्यद्रव्यरूप अवयवी घट में न होकर जैसा कि पिठरपाकवाही नैयायिक मानता है, परमाणुओं में होती है।

६. नैयायिक न्याय एवं वैशेषिक की हेत्वाभास परम्परा सम्बन्धी विचारणा में भी मतभेद है। जैसा कि न्यायदर्शन की विवेचना के अवसर पर कहा जा चुका है। न्यायदर्शन में असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक प्रकरणसम तथा कालात्यायापदिष्ट, ये पांच हेत्वाभास माने गये हैं, जबकि वैशेषिक में विरुद्ध असिद्ध एवं सन्दिग्ध, ये तीन हेत्वाभास स्वीकार किये गये हैं।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन के अन्तर्गत पदार्थमीमांसा, गुणस्वरूपनिरूपण, प्रमाण-प्रमेयविवेचन, परिमाण के भेद तथा उत्पत्तिनिरूपण, पाकजोत्पत्तिप्रतिपादन एवं पीलुपाक-स्थापना, सृष्टि-प्रलय के सिद्धान्त का विश्लेषण तथा धर्माधर्म एवं मोक्ष आदि सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत करते हुए, प्रधान रूप से भारतीय दर्शन के भौतिक एवं यथार्थवादी तथ्यों का उद्‌घाटन किया

गया है। निश्चय ही, वैशेषिक के अन्तर्गत विवेचित परमाणु-सम्बन्धी एवं पाकजोत्पत्ति आदिविषयक सिद्धान्त तत्कालीन भौतिकी (Physics) के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। सम्प्रति इस शास्त्र के पुनरनुसन्धान की परमापेक्षा है।

सहायकग्रन्थसूची

(Bibliography)

क—हिन्दी-संस्कृत-ग्रन्थ

अद्वैत वेदान्त (तृ.सं.)	राममूर्ति शर्मा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स,१९९८
अवच्छेदकत्वनिरुक्ति	जगदीश तर्कालङ्कार	चौखम्बा,वाराणसी,१९६८
आत्मतत्त्वविवेक	उदयन	वाराणसी,१९८३
ऋग्वेद	वै.शो.सं.	होशियारपुर,१९६१
कठोपनिषद्	राधाकृष्णन् सं.	लन्दन,१९५३
गदाधरी	गदाधराचार्य	चौ.वाराणसी,१९७०
छान्दोग्य उपनिषद्		श्रीरंगम्
तत्त्वचिन्तामणि	गंगेश उपाध्याय	वाराणसी,१९८३
तर्कभाषा (केशवमिश्र)	गजानन शास्त्री, मुसलगांवकर सं.	चौखम्बा,वाराणसी,१९८९
तर्कभाषा (Introduction)	अय्यर,एस.आर.	चौखम्बा,वाराणसी,१९७९
तर्कभाषा	विश्वेश्वर सं.	चौखम्बा वाराणसी १९५३
तर्कसंग्रह	अन्नंभट्ट (बोदास सं.)	भ.ओ.रि.इ.पूना १९७६
नैषधीयचरित	श्रीहर्ष	चौखम्बा,वाराणसी

न्यायकुसुमाञ्जलि	उदयन (दुर्गाधर झा सं.)	वाराणसी, १९७३
न्यायमंजरी	जयन्त भट्ट	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७८
न्यायवार्तिक	उद्योतकर	इन्डोविज़न, गाज़ियाबाद, १९८६
न्यायवार्तिक	उद्योतकर	काशी
तात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र	काशी
न्याय वार्त्तिक तात्पर्यपरिशुद्धि	उदयन	इन्डियन काउन्सिल आफ़ फिलौसोफिकल रिसर्च, दिल्ली, १९९६
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथ पञ्चानन	मधुवनी, दरभंगा १९३९
न्यायसूत्र	गंगानाथ झा	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८४
बृहदारण्यक उपनिषद्	राधाकृष्णन्	लन्दन, १९५३
ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य	शंकराचार्य	निर्णयसागर, १९१७
मनुस्मृति		परिमल, दिल्ली, १९९२
महाभारत	सूक्थांकर	भ. ओ. रि, इ. पूना, १९६८
महाभाष्य पतञ्जलि	शिवनारायण शास्त्री सं.	परिमल दिल्ली, १९९१
मानमेयोदय नारायण	सूर्यनारायण शास्त्री एवं कुन्हनराजा सं०	अडयार, मद्रास, १९७५
मुण्डकोपनिषद्		गीताप्रेस गोरखपुर, २००८
युक्तिदीपिका	रामचन्द्र पाण्डेय सं.	वाराणसी, १९६७
वात्स्यायन भाष्य	वात्स्यायन	वाराणसी, १९८९
वाल्मीकिरामायण	मुन्शीराम मनोहर लाल	दिल्ली, १९७६
वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	वाराणसी, १९३७

वैशेषिक सूत्र (प्रशस्तपाद भाष्य सहित)	कणाद	काशी
शंकराचार्यग्रन्थावली		श्रीरंगम्
शास्त्रदीपिका	पार्थसारथि	चौखम्बा, वाराणसी, १९२६
श्वेताश्वरोपनिषद्	राधाकृष्णन् सं.	लन्दन, १९५३
सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	भ.ओ.रि.इ.पूना १९७८
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	नेशनल, दिल्ली १९७२

ख—अंग्रेजी ग्रन्थ

Historical Survey of Indian Logic	Bodas	Varanasi
History of Indian Logic	Vidya Bhushan, S.C	Motilal Banarsidas, 1971
History of Indian Philosophy. (Vol. I&II)	Radhakrishnan	London, 1929
History of Indian Philosophy, Vol. I,II,III&IV	Dasgupta S.N.	Cambridge London, 1922
Introduction to Tarkabhāṣā	Jha, Ganganath	Varanasi-1967
Sacred Books of the East		Vol. XXXXV
Tarkabhāṣā	(Ed. D.R. Bhandarkar)	B.O.R.I Poona, 1937

Tattvasaṁgraha Śāntarakṣita	(Ganganath Jha ed.,)	Delhi 1937
The Vaiśeṣika philosophy	Ui, H.	Journal of oriental Research Vol X (with Chinese text)
Daśapadārthaśāstra	Thomas, F.W. ed.	Varanasi, 1962.

अनुक्रमणिका

अ

अंशव्यापी, २९

अक्षपाद, ७

अतिदेशवाक्य, ४७

अदृष्ट, ७१,९१

अभाव, ५०

अणु, ७६

अणुक, १२

अणुवाद ७१

अतद्व्यावृत्ति, ९६

अतिव्याप्ति, ३९

अनपदेश, ७७

अनीश्वरवाद, १०

अनुमान, ६,२२,२३,२७,५८

अनुव्यवसाय, ५५,५६,५८

असमवायिकारण, ६१

अनैकान्तिक, १०६

अन्तरिन्द्रिय, २०

अन्नंभट्ट, १४

अन्योऽन्याभाव, ९९

अन्वय, २७

अन्वयवाक्य, ३६

अन्वय व्यतिरेक, ३६

अन्वयव्यतिरेकी, ३५, ३६

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान ३७

अन्वयव्याप्ति, ३७, ३९

अपरत्व, ८७

अपवर्ग ७६, ६३

अपोहवाद, ९६

अपोहसिद्धि, १०

अविनाभाव सम्बन्ध, २६

अव्यपदेश्य, १७

अव्याप्ति, ३९

अष्टाध्यायी, ३१

अशुभा, ६५

असंभवदोष, ३९

असत्, ५९ ६०, ६१

असत्कार्यवाद, ६, ६०

असत्कार्यवादी, ६

अनैकान्तिक, ४१, ४२

सिद्धहेत्वाभास, ४२

असिद्ध, ३६

अप्रत्यय कर्म, १०२

अबोधितविषयत्व, ३७, ४०

अभाव, १९,२०,५१,५२,७५ ९८ ९९

अज्ञान, ७५

अभिधेय, ३५

अभिन्ननिमित्तोपादान, ६८

अयुतसिद्धत्व, १९

अरस्तू, ३१

अर्थापत्ति, ५३, ५६ ५० ७५

अलौकिकयोगजप्रत्यक्ष, २२

अलौकिकसंनिकर्ष, २१

अविच्छिन, ३७

अविद्या, १०१

आ

आकाश, ५,८७,८६,८९

आगमन, ३२

आचार पक्ष, २

आत्मतत्व, ५,६

आत्मतत्त्वविवेक, १२

आत्मवाद, १

आत्मवादी, २

आत्मा, ५, ८९,९९,१०२

आन्विक्षिकी, ३

आपस्तम्ब, ३

आप्त, ४९

आलोक, १२,१३,१४

आवश्यक, ७२

आश्रयसिद्ध, ४२

आस्तिक, १

आस्तिक षड्दर्शन, ५

इ

इतरव्यावर्तक, ८५

इतरेतराभाव, ९९

इन्द्रिय, ७५

इन्द्रिय-चेतना, ७५

ई

ईश्वर, ८७, १०२, ११, ६८

ईश्वरसिद्धि ७५

उ

उत्तरन्याय, ७५

उदयनाचार्य, १०,१२,१५,७५, १०४

उदाहरण, २८

उपनय, २८

उपमान, १५, ४८, ४८, ७५

उपाधि, २६, २७, ४३ ४४

ऊ

ऊर्भिषट्क् ६४

ए

एपिस्टोमोलोजिकल ६

ऐ

ऐतिह्य, ५०,५२,७५

औ

औलूक, ७३

औलूक्य, ७३

क

कणाद, ७२

कर्म, ७५, ९३, १०१

कार्यकारणवाद, ५९, ६०

काल, ८७

कालात्ययापदिष्ट, ४१, ४७, १०६

किरणावलि, १०२

कुमारिल भट्ट, १६,१७

कुसुमाञ्जलि, ११, १३

कृष्णानन्द, १३

केटेगोरीकल, ६

केवलव्यतिरेकी, ३४, ३५, ३६, ३८, ३९

केवलान्वयी ३४,३८

केशव मिश्र, १४

कैवल्य, १०४

कैवल्य, ४

क्वेहेइची ७३

ख

खण्डनखण्डखाद्य, १३

ग

गंगेश उपाध्याय, १२, १३

गदाधरणभट्टाचार्य, १४

गदाधरी, १४

गुण, ७५, ९२

गोल्टस्टकर, ३१

गौतम, ३, ७ ८, ७४

घ

घ्राणज, १६

च

चाक्षुषप्रत्यक्ष, १६,

चार्वाक, २,१०,१५,४८

चिदानन्द, ६४

चिस्तान, ७२

छ

छल, ८

ज

जगदीश भट्टाचार्य, १४

जयन्त भट्ट, ८,१०,८९

जल, ८६

जल्प, ८

जागदीशी, १४

जाति, ९५

जानकीनाथ भट्टाचार्य, १४

जीवचैतन्यवाद, २

जीवन्मुक्ति, ६४, १०३

ज्ञातता, ५३, ५६, ५७, ५८

ज्ञातताऽन्यथानुपपत्ति, ५३

ज्ञानकर्म समुच्चय, १०३

ज्ञानलक्षणाप्रत्यसत्ति, २२

ज्ञानविषयता, ५७

त

तक्की ४

तत्त्वचिन्तामणि, १३, १४

तत्त्वबिन्दु, १०

तत्त्ववैशारदी, १०

तप, ६६

तम, ९१

तर्क, २७

तर्कभाषा, १४

तर्कविद्या, ४

तर्क शास्त्र, ४

तर्क संग्रह, १४

तात्पर्य, १२

तात्पर्य शुद्धि, १२

तादात्मयभाव, ९९

तार्किक रक्षा, १४

तेज, ८६

द

दिक्, ८७

दिङ्नाग, ३, ४८

दीधिति, १४

दृष्ट, ७१

दृष्टान्त, ८, २८, ४६ ५१

देवसूरि, १

दृष्टार्थापत्ति, ५१

द्रव्य, १५

ध

धर्मकीर्ति, ३

धर्मशास्त्र, ४

धर्मसूत्र, ४

ध्यान, ६६

न

नदिया, १३

नव्य न्याय, ६, १२, ७, १३

नास्तिक, १

निगमन, २८, ३२

निग्रह, ८

निग्रह स्थान, ७

निबन्धप्रकाश, १२

निमित्तकारणरूप, ६१

निमिषोन्मेष, ८८

निर्वाण, १

निवृत्ति, १०३

नि:श्रेयस, ७०, ८५, १०२

निष्कण्टक, १४

न्याय, ३, ४, ५, ६,१३

न्यायकणिका, १०

न्यायकुसुमाञ्जलि, १०, ११, १३

न्यायतात्पर्यमंडन, १२

न्यायप्रदीप, १४

न्यायभूषण, १०

न्यायमञ्जरी, ६४

न्यायसिद्धान्त, १४

न्यायसिद्धान्त मञ्जरी, १४

न्यायमञ्जरीसार, १५

न्यायसूचीनिबन्ध, ८, ९, १०

न्यायसूत्र, ७,९

प

पक्ष, ५९

पक्षधर मिश्र, १२, १३, १४

पक्षाभास, ३०

पञ्चविधि, १०२

पञ्चावयव वाक्य, ३०, ३१, ३६

पदार्थधर्मसंग्रह, ८५

पदार्थमीमांसात्मक, ६, ८५

पदार्थशास्त्र, १२

पदार्थानुमान, ३३
परतः प्रामाण्यवाद, ५४, ५५
परत्व, ८७
परमाणु ९७
परमाणुकारणवाद, ६८ ९९
परमाणुपाक, १०६
परामर्श, २६, ३२
परार्थानुमान, २७ ३४
पाकज, ७३
पाणिनि, ३१
पिठरपाक, १०५, १०६
पीलुपाक, १०५, १०६, ७६
पुरीतत्, २१
पूर्वजन्म, १००
पूर्ववत् अनुमान, ३३, ७४, ७६
प्रकरणसम, ४१, ४४, १०६
प्रतिज्ञा २८, ३२, ४४, ४५, ४६, ५१
प्रत्यक्षप्रमाण, १६, १५
प्रत्यभिज्ञा ४८
प्रत्याहार, ६६
प्रभा, १५
प्रभाकर, १५
प्रमाण, ८,१५,१०५
प्रमाणमीमांसात्मक ६
प्रमाणशास्त्र, १२
प्रमेय, ८, १५
प्रयोजन, ८
प्रलय, ९९
प्रलयकाल, ११
प्रवृत्ति, १०३, ६५,६६
प्राचीनन्याय, ६,७
प्रामाण्य, ५४
प्रामाण्यवाद, ५३, ५६, ५७, ५८, ५९
प्रामाण्य, ६६
प्रारब्ध कर्म, ६४

ब

बन्धन, १०४
वर्द्धमान, १२, १३
बाधित विषय, ४६
बाह्यार्थ, ७
बोदास, ३
बौद्धधिक्कार, १२
बौद्धन्याय, ३
बौद्धमीमांसा, १०

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, १०

भ

भंगवाद, ७

भद्रबाहु, २८

भाट्टमीमांसक, ९८

भामती, १

भारतीय न्याय, ३

भासर्वज्ञ, १०, ४८

भौतिकतावादी, २

म

मकरन्द, १३

मथुरानाथ भट्टाचार्य, १४

मन, ४, ७४, ९४, ९१, ९७

मनोगति, ८८

मल्लिनाथ, १४

माधव, १४

मानसप्रत्यक्ष, २१

मिथिला, १३

मीमांसा, ४

मोक्ष, ६३,६५,६९,७४,१०२

य

यादवाचार्य, १५

योगजप्रत्यक्ष, २२

र

रघुनन्दन, १३

रघुनाथशिरोमणि, १३

रत्नकीर्ति, १

रोहगुणा, ७२

ल

लिङ्ग, ५, २४

लिङ्गपरामर्श, २५

लिङ्गी, २४

लेखा, ३७

व

वरदराज, १४

वाकोवाक्य, ३

वाचस्पति मिश्र, १४, १०, १२

वात्स्यायन, ४, ८१, १५, २३, २८, ६३, ६५

वाद, ७,८

वायु, ८६

वसुदेव आर्य, १३

वासुदेव सार्वभौम, १३

विदेहमुक्ति, ६४, १०३

वितण्डा, ८

विग्रहस्थान, ८
विद्या, १०१
विद्याभूषण ३१
विपक्ष, ४२
विभागज, ७३
विमंसी, ४
विरुद्ध, ४१, १०६
विरुद्ध हेत्वाभास, ४२
विवेक, १
विशेष, ७२, ७५, ९६
विशेषणविशेष्यभावसंनिकर्ष, १९, २१
विश्वनाथ १२, १४
वृहत्तर्क, ७
वेद, ११
वैशेषिक, ७२, ७३
वैशेषिक सूत्र, ७७
व्यतिरेक, ३७
व्यतिरेकव्याप्ति, ३८
व्यभिचाराग्रह, २६
व्यवसायत्मक, १७
व्यापार, ८८
व्याप्ति, २५,२६,२७,३९,७५
व्याप्ति पंचक, २६
व्याप्य, ३२
व्याप्यत्वासिद्ध, ४३, ४४
व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास, ४३
व्युत्पत्तिवाद, १४

श

शंकर मिश्र, १२
शङ्कराचार्य, ६४
शक्तिवाद, १४
शब्द, ३४ ५
शब्दनित्यत्व, ४७
शब्दप्रमाण, ४९,५०,७५
शब्दशक्तिप्रकाशिका, १४
शशधर, १४
शुभा, ६५
शून्यवाद, ७
शेषवत् अनुमान, ३३, ७४, ७६
शेषान्ताचार्य, १५
श्री हर्ष, ६९
श्लोकवार्तिक, १७

ष

षोडशपदार्थ ८, १५

स

संज्ञान, ७५

संज्ञानकर्म, १८

संयुक्तसमवाय, २२

संयुक्तसमवायसंनिकर्ष १८

संयुक्तसमवेतसमवाय, १८

संयोग, २०

संयोगसम्बन्ध, २२

संयोगसंनिकर्ष, १८

संशय, ८

संशयव्युदास, २८

संसर्गाभाव, ९९

संस्कार, ७४

संहार, १०१

सच्चिदानन्द, ६४

सत्, ४३ ५९, ६०

सत्प्रतिपक्षहेत्वाभास, ४४

सतीशचन्द्र विद्याभूषण, ७, ३०

सत्त्व, ३७

सपक्ष, २५, ३७, ४२

सपक्षसत्त्व, ३९

सम्बन्ध, २२

समवाय, ९७

समवायसन्निकर्ष, १९

समवायसम्बन्ध, १९,

समवायिकारण, ६१

समवेत, १९

समवेतसमवायसंनिकर्ष, १९

सम्भव, ५०,५२,७५

सविकल्पक, १७

सव्यभिचार-अनैकान्तिक, ४१,४२

स्वार्थानुमान, ३४

सांख्यतत्त्वकौमुदी, १०

साधारण अनैकान्तिक, ४१

साध्याभास, ३०

सामान्य, ९५

सामान्यतोदृष्ट, ३३, ३४,७४

सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति, २१

सृष्टि, १००

स्याद्वाद २

स्याद्वादरत्नाकर, १०

स्वतःप्रामाण्यवाद, ५३, ५५, ५६

स्वप्नज्ञान, १०१
स्वरूपासिद्ध, ४२
स्वार्थानुमान, २७, २८

ह

हरप्रसाद शास्त्री, ७
हेतु, २८,३७,४५,४६,५१
हेतुविद्या, ४
हेतुशास्त्र, ३४
हेत्वाभास, ७७, १०६,४०,४२,४४,४६

परिशिष्ट—१

न्यायशास्त्रीयपरिभाषाः

अ

अखण्डोपाधिः—जातिभिन्नः खण्डः धर्म-विशेषः । असमवेतत्वे सत्यनुगतत्वम् ।

अघटकत्वम्—तद्विषयत्वाव्यापकविषयताकत्वम् ।

अतिव्याप्तिः—लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वम् यथा गोः श्रृङ्गित्वं लक्षणम्, लक्ष्यगोवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यमहिष्यादिवृत्ति । लक्ष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्ये सति लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्यम् ।

अधिकरणत्वम्—यथार्थविशिष्टधीविशेष्यत्वम् विषयताविशषः इति केचन ।

अनतिरिक्तवृत्तित्वम्—स्वान्यूनवृत्तित्कत्वम् ।

अनवस्था (अनवस्थितिः)—क्लृप्तवस्तुसजातीयवस्तुपरम्पराकल्पनस्य विरामाभावः ।

अनित्यत्वम्—ध्वंसप्रागभावान्यतरप्रतियोगित्वम् ।

अनुमितिः—व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानम् । परामर्शजन्यं ज्ञानम् । व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मत्वं विषयताशालि-निश्चयत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपित कार्यताशालि ज्ञानम् ।

अन्यतमत्वम्—तावद्‌भेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्वम् ।

अन्यतरत्वम्—भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदत्वम्।

अर्थान्तरम्—प्रकृतानाकांक्षितार्थाभिधानम्, प्रकृतोपयुक्तार्थमुपेक्ष्यासम्बद्धार्थाभिधानम्।

अवच्छिन्नत्वम्—अवच्छेद्यत्वम्—इदमेत द्विशिष्टे एततपकारकम् इति प्रतीति-

साक्षिक: स्वरूप सम्बन्धविशेष: इदमेतद्विशिष्यकत्वांशे एतत्प्रकारकमितिप्रतीति साक्षिकोवा।

अवच्छेद:—विशेषणोपाधिना विशेषकारणम्।

अवच्छेदकत्वम् = अनतिरिक्तदेशवृत्तित्वम्। अवच्छित्यान्यूनानतिरिक्त कालीनविशेषसम्बन्धवत्वं वा

अवच्छेदकत्वम्—प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मत्वम्। अनतिरिक्तवृत्तित्वम् तच्च व्यावर्तकत्वसामानाधिकरण्यस्वनिष्ठावच्छेदकताकत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन यत्किञ्चिद्धर्मविशिष्टत्वम्।

अव्याप्ति:—लक्ष्यतावच्छेदकसामानाधिकरमात्यन्ताभावपतियोगित्वम् अव्याप्यवृत्तित्वम्-स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम् स्वप्रतियोगित्व स्वसामानाधिकरण्यैतदुभयसम्बन्धेना भाववत्वम्।

असम्भव:—लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम्।

अख्याति:—स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतभेदेनैकत्वज्ञानम्

अजहल्लक्षणा—शक्यार्थापरित्यागेनतत्सम्बद्धार्थान्तरे वृत्ति: यथा शोणोधावत्तीत्यत्र शोणपदस्य शोणगुणविशिष्टेऽश्वादिद्रव्ये।

अज्ञातत्वम्:—प्रमाणजन्यज्ञानाविषयत्वम्।

अज्ञाननिग्रहस्थआनम् परिपदा विज्ञातस्य वादिनात्रिरभिहितस्यापि वाक्यार्थस्याबोध:।

अणुत्वम्—सूक्ष्मपदार्थत्वे सत्यारम्भकत्वम्।

अतिदेशः—स्वविषयमुल्लङ्घ्यान्यविषये उपदेशः । एकत्रश्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धः ।

अतिप्रसंगः—यस्यबोधो यत्राभिमतस्तत्रतदन्यस्यापि बोधप्रसंगः । प्रस्तुतविषयादन्यत्र प्रसक्तिर्वा ।

अतीन्द्रियत्वम्—लौकिकसाक्षात्कारविषयगुणत्वन्यूनवृत्तिसंस्कारत्वान्यधर्मसमवाय्यन्यगुणत्वम् ।

अत्यन्तनिवृत्तिः—कारणसहितकार्य्यनिवृत्तिः ।

अत्यन्ताभावः—त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताको भावः यथा भूतले घटोनस्ति ।

अद्वैतत्वम्—सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वम्

अधिकरणम्—साक्षात्परम्परया वा क्रियाश्रयः—अधिगमः—प्राप्तिः ।

अधिगमः—प्राप्तिः ।

अधिकारी—मुख्ययगौणप्रयोजनप्राप्तिकामी ।

अध्यात्मशास्त्रं—आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तंशास्त्रम् ।

अनादित्वम्—उत्पत्तिरहितत्वम् ।

अनिर्बचनीयख्यातिः—सदसदादिप्रकारैरकनिर्वाच्यस्यैवाध्यस्तपदार्थस्य भानम् ।

अनुगतत्वम्—एकत्वे सत्यनेकवृत्तित्वम् ।

अनुपलब्धिप्रमाणम्—योग्यत्वे सत्यनुपलम्भो भावप्रमाकरणम् ।

अनुमानप्रमाणम्—योग्यत्वे सत्यनुपलम्भोऽभावप्रमाकरणम् ।

अनुमानप्रमाणम्—अनुमिति-प्रमाकरणम् ।

अनुयोगि—यस्मिन्न भावः, यस्मिन् सम्बन्धः यस्मिन् सादृश्यम्, वास्ति सः विशिष्टप्रतीतिविषयविशेषः

अनुव्यवसायत्वम्—ज्ञानविषयकज्ञानत्वम् ।

अनेकत्वम्—अपेक्षाबोधविषयत्वम् । एकत्वभिन्नसंख्याविशिष्टत्वंवा ।

अन्यतरकर्मजसंयोगः—क्रिया भाववत्समवेतत्वे सति क्रियावत्समवेत: संयोग:

अन्यथाख्यातिः—अन्याकारज्ञानस्यालम्बनम् ।

तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानंवेतिभाट्टवैशेषिका: ।

अन्यथासिद्धत्वम्—स्वकारण कारणत्वम् ।

लघुसमनियतपूववर्तिन: कार्यसम्भवेतद्भिन्नत्वम् ।

अन्वयः—स्वसत्तानियतसत्तावत्कार्यसम्बन्ध: ।

यन्सत्वे यत्सत्वम् ।

अन्वयदृष्टांतः—साध्यव्याप्तंसाधनं यत्न प्रदर्श्यते स:

अन्वयव्यभिचारः—कारणसत्वे कार्याभाव: ।

स्वाधिकरणवृत्यत्यन्ताभावप्रतियोगिकार्यकन्वम् ।

अन्वयव्याप्तिः—हेतु समानाधिकरणत्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम् ।

अन्वयसहचारः—कारणसत्वे कार्यसत्वम् ।

अपरत्वम्—अपरव्यवहारासाधारणकारणम् ।

अपरसामान्यत्वम्—न्यूनदेशवृत्तिजातित्वम् ।

अपसिद्धान्तनिग्रहस्थानम्—एकसिद्धान्तमतमश्रित्य कथाप्रवृत्तौ तद्विरुद्धसिद्धान्त मतमालम्व्योत्तरदानम् ।

अपूर्वम्—वैध निषिर्द्धक्रिया जन्ययो: कालान्तर भाविनो:सुखदु:खयो र्हेतुभूते पुण्य पापे ।

अपेक्षा—कार्यनिमित्तयोरन्योन्याभिसम्बनध: ।

अपेक्षाबुद्धिः—विनाशकविनाशप्रतियोगिनी बुद्धि:, अनेकैकत्वम् विषयिणी बुद्धिर्वा ।

अपोहः—शिष्यस्य मिथ्या ग्रहणायाकरण सामर्थ्यम् ।

अपोरुषेयत्वम्—वाक्यार्थज्ञानपेक्षोच्चारणकमात्रवृत्यानुपूर्वीशून्यत्वम्,

अप्रमात्वं—अप्रामाण्यं—दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् । तदभाववति तत्प्रकारकत्वम् ।

अवाच्चत्वम्—त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वम् ।

अभावः—निषेधमुखप्रतीतिविषयः ।

अभावप्रमा—योग्यानुपलब्धिकरणिका प्रमा यथा घटाद्यनुपलब्ध्वा घटाभाव प्रमा भूतले जायते ।

अभिज्ञाप्रत्यक्षम्—इदन्तामात्रावगाहिज्ञानम् विषयसम्बद्धेन्द्रियजन्यं ज्ञानम् । यथाऽयं घटोऽयंपट इत्यादि ।

अभिधानत्वम्—अन्वयबोधफलकशब्दप्रयोगत्वम्

अभिधेयविधित्वम्—कृतिसाध्यत्वेसतीष्टसाधनत्वम्

अभिन्नत्वम्—भेदानधिकरणत्वम् ।

अभिनवः—वलवत्सजातीय सम्बन्धकृतमग्रहणम् ।

वलवत् सजातीयतिरस्करणम् ।

अभिव्यंजकत्वम्—अस्ति व्यवहारजनकत्वम् ।

अभ्युपगमवादः—असम्बद्धयोरविद्यमानत्वम् ।

अरणिः—घर्षणद्वाराग्निजनककाष्ठम् ।

अलीकम्—तादृशप्रयोगिताविशिष्टत्वे सत्यप्रतीयमानम् ।

अवच्छिन्नत्वम्—तत्तत्पदार्थ विशिष्टत्वम् ।

अवधानत्वम्—विषयान्तरसंचाराभाववत्वम् ।

अवधारणत्वम्—एकाकारावगाहिज्ञानत्वम् । अन्वयोगव्यवच्छेदकत्वम् ।

अवयवः—समुदायांशरूपः । अवच्छिन्नपरिमाणवान् ।

अवयवित्वम्—कार्यद्रव्यत्वम् अवयवजन्यद्रव्यत्वंवा

अवगीतत्वम्—वलवदनिष्ठाननुवन्धित्वम् ।

अव्यभिचरितत्वम्—साधनसमानिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम् । साध्यवद-न्यावृत्तित्वंवा ।

अव्याप्तिः—लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम् यथा गोः कपिलत्वं लक्षणम् श्वेत गवादौ लक्ष्यैकदेशे वृत्तिलक्ष्यता—वच्छेदक समानाधिकरणा त्यन्ताभाव प्रति-योगित्वम् ।

असमवायिकारणम्—समवायेन कार्याधिकरणेसमवाय स्वसमवायि समवेतत्वा-न्यतर सम्बन्धेनसम्बद्धं कारणम् ।

असाधारणकारणत्वम्—कार्य (त्वातिरिक्त धर्मावच्छिन्नकार्यता निरूपित कार-णता शालित्वम्) तावच्छेदकावच्छिन्न कार्यानुत्पादकत्वेसति कार्यविशे-षोत्पादकत्वम् ।

असाधारणत्वम्—तद्वृत्तित्वेसति तदितरावृत्तित्वम् लक्ष्यतावच्छेदक व्यापकत्वे-सति लक्ष्यतावच्छेदक व्याप्यत्वम् ।

अहंकारः—अभिमानात्मिकान्तः करणवृत्तिः ।

आकांक्षा—स्वरूपयोग्यत्वेसति अजनितान्वयबोधजनकत्वम् । यत्पदस्य यत्पदा-भावप्रयुक्तमन्वयबोधाजनकत्वतत्पद समभिव्याहृतततत्पदत्वम् ।

आक्षेपः—प्रतिषेधपुरस्सरोक्तिः

आख्यातत्वम्—सुब्भिन्नत्वेसति संख्याबोधकप्रत्ययत्वम् ।

आख्यानम्—पूर्ववृत्तकथनम् स्वयंदृष्टार्थकथनंवा

आचार्यः—मतप्रस्थापकः मन्त्रव्याख्याकृद्‌वा आचिनोतिच शास्त्रार्थमाचारे स्थाप-यत्यपि स्वयमप्याचरेद्यस्तु स आचार्य इतिस्मृतः ॥

आत्मा—ज़ानाधिकरणम् । अमूर्तसमवेतद्रव्यत्वापरपातिमत्वं वेति तार्किकाः ।

आत्माश्रयत्वम्—स्वग्रहणसापेक्षग्राहकत्वम् । सापेक्षापादकप्रसंगत्वम् ।

आदिः—परस्मिन्सति यस्मात्पूर्वोनास्ति सः समुदायविशिष्टत्वम् आदित्वम् वै. स्वघटकत्व स्वघटकोत्तरत्वाभाववत्व स्वघटकपूर्वत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन ।

आधेयता—आधेयमित्याकारकप्रतीतिनियामकधर्मविशेषः ।

आपत्तिः—सम्यग्वर्तनोपायानुपलम्भः ।

आपातत्वम्—संशयादिग्रस्तत्वम् । अविचरित बाक्यजन्यत्वंवा २ अज्ञाननिवृत्ता-वसमर्थज्ञानमापातज्ञानम् ।

अप्रामाण्यम्—शंकास्पदज्ञानत्वम् ।

आप्तत्वम्—प्रयोगहेतुभूतयथार्थ ज्ञानवत्वम् लोकवेदसाधारणप्रतारणाद्यजन्य हिता हितोपदेश कर्तृत्वे सति तद्भिन्नोपदेशाकर्तृत्वम् ।

आरादुपकारक्कम्—द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं बिधीयमानं कर्म ।

आरोपः—अतद्वति तत्प्रकारकं वाधज्ञानकालीनंज्ञानम् ।

आलयविज्ञानम्—आलयं, लयपर्यन्तंस्थायिविज्ञानम् ।

आश्रयासिद्धत्वम्—पक्षतावच्चेदकाभाववत्पक्षकत्वम् ।

आसक्तिः—विषयान्तरपरिहारेणैकविषयावलम्बनम् ।

आसक्तिः—यत्पदार्थेन सह यत्पदार्थस्यान्वयोपेक्षितस्तयोः पदयोरव्यवधानम् । शक्ति लक्षणान्यतरसम्बन्धेनाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिर्वा ।

आहार्यम्—स्वविरोधिधर्म धर्मितावच्छेदकक स्वप्रकारकं ज्ञानम् ।

आहार्यज्ञानम्—वाधकालीनेच्छाजन्यंज्ञानं यथा माणवके प्रेम्णा चिन्तामणिबुद्धिः ।

उ

उपचारः—शक्यार्थत्यागेनान्यार्थबोधनम् अनियत सम्बन्धेनान्यत्र वृत्तिः यथा मंचा क्रोशन्ति इत्यादौ पुरुषैः समं मंचसम्बन्धो नियतः ।

उपलक्षणत्वम्—स्वप्रतिपादकत्वेसति स्वेतरप्रति पादकत्वम् स्वार्थबोधकत्वेसति इतरार्थबोधकत्वम् २ कादाचित्कत्वेसति व्यावर्तकत्वम् यथा काकादिकं देवदत्तगृहादेः ।

उपायः—साक्षात्परम्परया वा यतकिंचित्कार्यजननेसमर्थः ।

उपलक्षितत्वम्—स्वसमानाधिकरणं स्वेतरकालीनस्वप्रतियोगिकभाववत्व सम्बन्धेन स्वसम्बन्धित्वम् ।

उपसर्जनत्वम्—स्वार्थविशिष्टयर्थान्तरबोधकत्वम् ।
अन्यपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकत्वम् ।

उपसंहारः—विस्तरेण निरूपितस्य पदार्थस्य सारांशकथनेन तन्निरूपणसमापनम् ग्रन्थ तात्पर्यावधारकलिंगविशेषः ॥ २ ॥

उपलक्षणत्वम्—विवक्षितान्वयप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेसति व्यवच्छेदकत्वम् ।

एकत्वम्—स्वजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वम् ।

एक्कवृत्तिगुणत्वम्—स्वाश्रयान्योन्याभावव्यापकात्यन्ताभावप्रतियोगि गुणत्वम् ।

क

कल्पना—अविद्यमानपदार्थस्य अन्यत्रस्थितस्यान्यत्र प्रतिभासरूपो मानस, व्यापारः ।

कादाचित्कत्वम्—सत्त्वेसति किंचित्कालवृत्यभावप्रतियोगित्वम् ।

कुतर्कः—श्रुतिविरोधितर्कः ।

केवललक्षणा—शक्यसाक्षात्सम्बन्धः ।

केवलव्यतिरेकित्वम्—अन्वयव्याप्तिशून्यत्वेसति व्यतिरेकव्याप्तिमत्वम् ।

केवलान्वयित्वम्—अत्यन्ताभा (वाप्रतियोगित्वम्) वीयप्रतियोगितानवच्छेदकता धर्मवत्वम् असद्विपक्षत्वम् ।

कालोपाधिः—क्षणादिना व्यवहारविषयत्वनियामकोऽधर्मः २ क्रियामात्रंवा ३
क्षणः—निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थोभागः स्वाधेय पदार्थप्रा-
गभावानाधारः समयः।

क्षणिकत्वम्—स्वाधिकरणसमयप्रागभावाधिकरणा (नुत्पत्तिकत्वम् १)
वृत्तित्वमिति बौद्धाधिकारे २ तृतीय क्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम घटादि-
वारणाय

तृतीयक्षणवृत्तीति । ४ क्षणान्तरासम्बन्धित्वेसति क्षणसम्बन्धित्वम् ।

ख

खण्डप्रलयः—जन्यद्रव्यानधिकरणकालः ।

ग

गमकत्वम्—नित्यसाकांक्षत्वम् ।

घ

घटकत्वम्—तद्विषयताव्यापकविषयतावत्वम् ।

घटितत्वम्—तद्विषयिताव्याप्य विषयतावत्वम्

च

चक्षुः—रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियम् ।

चरमत्वम्—स्वजातीयपदार्थप्रागभावानाधिकरणत्वम्
स्वेतरभावकारणानपेक्ष कार्यकत्वम् । २ ।

चेष्टा—इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारानुकूलव्यापारः ।

ज

जनकत्वम्—अन्यथासिद्धशून्यसत्वेसतिनियतपूर्ववृत्तित्वम् ।

जल्पः—उभयपक्षस्थापनवती विजिगीषुकथा । परमंतनिराकरणत्वेसति स्वमत-
स्थापनम् ।

जहदजहल्लक्षणा—वाच्यार्थैकदेशत्यागेनैकदेशवृत्तिः

जहल्लक्षणा—शक्यमात्रपरित्यागेन तत्सम्बन्ध्यर्थान्तरे वृत्तिः। यथा गंगयांघोष इत्यत्र गंगापदस्यतीरे, अजहल्लक्षणायामतिव्याप्तिवारणाय शक्यमात्रपरित्यागेनेति

जात्युत्तरम्—असदुत्तरम्,

जीवः—-प्राणधारणानुकूलव्यापाराश्रयः (१) सुखादिसमवायिकारणम् (२)

जीवनम्—प्राणधारणानुकुलो व्यापारः।

ज्ञानलक्षणसन्निकर्षः—स्वविषयविषयक प्रत्यक्षजनकः।

ज्ञानेन्द्रियम्—ज्ञानकरमिन्द्रियम्।

त

तर्कः—अनिष्टप्रसंजकः (१) व्याप्यारोपेण व्यापकारो
पः, यदिपर्वतेवह्निर्नस्यात् तर्हि धूमोऽपिऽन स्यात्।

तात्पर्यम्—वक्तुरिच्छा (१) तत्प्रतीतिजननानुकूलवृत्तिमत्वम्।

तादात्म्यम्—भेदासहिष्णु अभेदत्वमित्ति केचित् तद्भिन्नत्वेसति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्।

तुल्यत्वम्—स्वभिन्नजातिसमनियतत्वम्।

तुल्यवलविरोधः—अन्यत्रानन्यलव्धावकाशयोर्द्वयोः शास्त्रयोकेकत्र युगपत्प्राप्तिः।

द

दार्ष्टान्तिकत्वम्—दृष्टान्तप्रयुक्तत्वम्।

द्वित्वम्—अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वम्।
अपेक्षाबुद्धिजन्यो गुणविशेषः ॥ २ ॥

देहः—प्रतिक्षणमुपचीयमानावयबः। इन्द्रियाश्रयोवा।

द्रवत्वम्—आद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्।

द्रव्यत्वम्—आद्यस्यन्दनासमवायि कारणम् ।

द्रव्यत्वम्—गुमसमवायित्वम् ।

नान्तरीयकत्वम्—अन्यनिष्पादकयत्ननिष्पाद्यत्वम् ।

नास्तिकः—परलोकाद्यभावप्रतिपादकः । वेदनिन्दकोवा । २ ।

निरूपणम्—लक्षणप्रमाणस्वरूपापाभिधानम् ।

निरूपकत्वम्—स्वरूपसम्बन्धविशेषः

निर्विकल्पकम्—संसर्गानवगाहि ज्ञानम् यथा घटघटत्वे इति ज्ञानम् ।

नैयायिकः—षोड़शपदार्थानुसारिन्यायज्ञः ।

नोदनसंयोग—स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगः ।

नोदना—क्रियासु प्रवर्तकं वचनम् ।

न्यायः—लोकशास्त्रप्रसिद्धदृष्टान्तः । प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् प्रमाणानुग्राहकस्तर्कः ॥ २ ॥

न्यायशास्त्रम्—पदार्थानांसर्वेषामनुगमरूपेणप्रकाशको ग्रन्थः ।

निरूपितत्वम्—स्वरूपसम्बन्धविशेषः ॥ १ ॥

निर्णयः—तदभावाप्रकारकं तत्प्रकारकं ज्ञानम्, ।
विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणम् । २ ॥

प

पदार्थत्वम्—पद (निष्ठवृत्तिनिरूपकत्वम्) जन्य ज्ञान विषयत्वम्,
(२) द्रव्याद्यन्यतमत्वम् ।

परीक्षा—परमतनिराकरणपूर्वकस्वमतस्थापनम् ।

परममहत्त्वम्—अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वम् ।

परमाणुः—मूर्तत्वे सति निरवयवः । जालसूत्रमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मंदृश्यते रजः,

परसामान्यत्वम्—अधिकदेशवृत्तिजातित्वम्

परामर्शः—व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् ।

परार्थानुमानम्—न्यायप्रयोज्यानुमानम् ।

परार्थानुमितिः—स्वयंव्याप्याद्व्यापकं प्रतीत्य परप्रतिपत्यर्थं प्रयुक्तादबयववाक्यात्परस्य व्यापकप्रत्ययः ।

पौरुषेयम्—प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्यविनिर्मितत्वम् ।
(१) पूर्वानुपूर्व्यनपेक्षपुंविशेषबुद्ध्यधीनानुपूर्वीमत्वंवा ।
(२) सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम् ।

प्रतितन्त्र सिद्धान्तः—वादिप्रतिवाद्यकेतरमात्राभ्युपगतप्रतिपादनं प्रतिपाद्य मुख्यतः प्रतिज्ञाय पश्चात् तत्सिद्धिहेतुप्रदर्शनम् उपोद्घातवारणायमुख्यइति, असम्बद्धहेतुव्यावृत्यर्थं तत्सिद्धिरिति ।

प्रतियोगी—यस्याभावः यस्यसम्बन्धः यस्य सादृश्यंवा सः ३ ।
धर्मिभिन्नत्वेसति भेदनिरूपकत्वम् ।

प्रत्यक्षम्—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानम् । सन्निकर्षध्वंसवारणाय ज्ञानमिति, अनुमित्यादिवारणायेन्द्रियार्थसन्निकर्षेति, ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् ।

प्रत्यक्षप्रमाणम्—प्रत्यक्षप्रभाकरणकम् । प्रमाकरणानुमानादावतिव्याप्तिवारणाय प्रत्यक्षेति, भ्रमप्रत्यक्षकरणेऽतिग्रसंगवारणाय प्रमापदम् ।
प्रत्यक्षेति, भ्रमप्रत्यक्षकरणेऽतिग्रसंगवारणाय प्रमापदम् ।

प्रत्यभिज्ञा—तत्तेदन्तावगाहिज्ञानम् । संस्कारेन्द्रियसंप्रयोगोभयजन्यज्ञानम् (२), यथा सोऽयं देवदत्त इति ।

प्रध्वंसाभावत्वम्—अविनाशित्वेसति (जन्यत्वम्) प्रतियोगिसमवायिमात्रवृत्यभावत्वम् । अन्योन्याभाववारणाय मात्रेति, सामयिकाभावादिवारणाय सत्यन्तम् ।

प्रमेयत्वम्—प्रमाविषयत्वम् ।

प्रसङ्गसङ्गतित्वम्—उपोद्घातभिन्नत्वेसत्यनन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनक ज्ञानविषयत्वम् ।

प्रागभावत्वम्—अजन्यत्वेसति विनाशित्वम् । घटादिवारणाय सत्यन्तम्, परमाणु-वारणाय विनाशित्वमिति ।

प्राणः—शरीरान्तः संचारीवायुः । महावाय्व्वादावतिव्याप्तिवारणाय, मनआदिवार-णाय विशेष्यम्, धनञ्जय वारणायसंचारीति ।

पुनरुक्तिः—अनुवादान्यत्वेसाति निष्प्रयोजनंपुनरभिधानम् ।

प्रतियोगितावच्छेदकः—येनरूपेणाभावादेः प्रतियोगिता बोध्यते स धर्मः । येन सम्बन्धेनाभावः स सम्बन्धः (२) ।

प्रतियोगित्वम्—स्वरूपसम्बन्धविशेषः (१)

प्रतिसन्धानम्—अनुचिन्तनम् ।

फलोपधायकत्वम्—कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन फलविशिष्टत्वम् यथा कुलालहस्तस्थदण्डे ।

भ

भावनासंस्कारः—जन्यज्ञानजन्यसंस्कारः (१) पूर्वानुभवजन्यः स्मृतिहेतुः (२) आत्मादिवारणाय प्रथमदलम्, अनुभवध्वंसवारणाय द्वितीयदलम् ।

भाविकालः—भविष्यत्वम् सूर्यपरिस्पन्दादिक्रियाप्रागभावावच्छिन्नः कालः बर्त-मानप्रागभावपतियोगित्वम् (२)

भूतकालः—सूर्यपरिस्पन्दादिक्रियाध्वंसावच्छिन्नः कालः (१) वर्तमानध्वंसप्रतियो-गित्वम् (२)

भेदः—पृथक्करणम् (१) अन्योऽन्याभावो बा ।

म

मनः—सुखदुःखादिसाक्षात्कारकारणमिन्द्रियम् आतममनः संयोगादिवारणायेन्द्रिय-मिति, चक्षुरादिवारणायसुखेति ।

महाकालः—अनवच्छिन्नः कालः । उपाध्यनवच्छिन्नः कालः ।

प

यथार्थज्ञानम्—फलवत्पवृत्तिजननयोग्यम्, यथा रजते इदंरजतमितिज्ञानम् दुष्ट सामग्र्यजन्यं ज्ञानम् (२)

युक्तिः—अर्थावधारणम् स्वपक्षसाधकविपक्षवाधकप्रमाणोपन्यासः (२) ।

योग्यानुपलब्धिः—अभावपतियोगिसत्वप्रसंजनप्रसंजितोपलब्धिरूपप्रतियोगिकान ुपलब्धिः, यथा, भूतलेघटोनास्तीति प्रतीतिसिद्धघटाभाव प्रतियोगिनो घटस्य यद्यत्र घटः स्यादिति प्रसञ्जनेन (आपादनेन) तर्ह्युपलभ्येतेति प्रसंजितोपलब्धिरूपप्रतियोगिका घटस्यानुपलब्धिस्तस्या भूतले घटा-भाव प्रमा जायते ।

योनिजशरीरं—शुक्रशोणितयोः परस्परमेलनजन्यम्

ल

लक्षणा—बोध्यसम्बन्ध इति मी. शक्य सम्बन्धः सा द्विविधा केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति शक्य परम्परासम्बन्धः लक्षितलक्षणा यथा द्विरेफोऽरौदिति वाक्ये द्विरेफस्य भ्रमरपदे सम्बन्धस्तस्य च मधुकरे ।

लक्ष्यम्—वक्तृतात्पर्यविषयत्वे सति शक्यसम्बद्धम् लक्षितुं योग्यम् ।

लक्षणम्—यो धर्मो लक्ष्ये व्याप्त्या वर्तते, न वर्तते चान्यः स धर्मः लक्षतावच्छेदक समनियतम् २

व

वितण्डा—स्वपक्ष स्थाप (न हीना विजिगीषु कथा) ।
नाराहित्येन परपक्षनिराकरणवाक्यम् ।

वितर्कः—संदेहाद्यनन्तरं जायमान ऊहः ।

विनिगमना विरहः—एकतरपक्षपातियुक्तिविरहः

विपर्ययः—बाध्यमानं ज्ञानम् । अतस्मिंस्तत्प्रत्ययः

विप्रतिपत्तिः—संशयजनकवाक्यम् परस्परविरुद्धार्थ (प्रतिपादक्वादिवचनम् २) क वाक्य द्वय जन्यप्रतीतिद्वयम् ३ ।

विभुत्वं—सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम् । सर्वदेशवृत्तित्वम् ।

वृत्तित्वम्—आधेयत्वम् । (क्वचिन्निरूपकता) ।

वृत्तिः—शक्तिः लक्षणा, कृतद्धितान्तसमासानामन्यतमः ।

वैयधिकरण्यं—भिन्नविभक्त्यन्तानां पदानां विभान्नार्थनिष्ठत्वम् ।

व्यतिरेकः—यदभावे यदभावः यथा यत्र यत्र सर्वप्राणिहिसनशीलत्वे सति पशुत्वाकृतिविशिष्टा काचन व्यक्तिर्नभवति तत्र सिंहप्रत्ययोऽपि न भवति ।

व्यतिरेकव्याप्तिः—साध्याभाव (पुरस्सरत्वम्) व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम् ।

व्यतिरके सहचारः—कारणाभावे कार्याभावः ।

व्यतिरकेक्यनुमानम्—व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्टहेतुकानुमानम् ।

व्यधिकरणत्वम्—तदधिकरणावृत्तित्वम् ।

व्यपदेशः—निमित्तसद्भावा द्विशिष्टोपदेशोमुख्योव्यवहारः ।

व्यभिचारः—साध्याभाववृत्तित्वम् ।

व्यापकत्वम्—अधिकदेशवृत्तित्वम्—हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा तत्समानाधिकरण्यात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदक धर्मवत्वम् । तन्निष्ठाऽन्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वम् । प्रतियोग्यनधिकरणहेतुमन्निष्ठाभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वं यद्धर्मावच्छिन्नत्वमेतदुभयाभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वम् ।

व्याप्तिः—साध्य (भाववदवृत्तित्वम्) साधनयोरव्यभिचरितसम्बन्धः २ ।

व्युपत्तिः—शास्त्रजन्यशब्दार्थज्ञानादिसम्पाद्य संस्कारविशेषः ।

व्यासज्यवृत्तित्वम्—एकत्वानवच्छिन्नपर्याप्तिकत्वम् ।

विग्रहः—वृत्यर्थाववोधकं वाक्यम् । समासादिवृत्तिसमानार्थकवाक्यविशेषः

विनिगमकम्—अन्यतरपक्षपातिनी युक्तिः (विनिगमना वा)

विशेषणता—स्वरूपसम्बन्धरूपसन्निकर्ष विशेषः प्रकारताख्यो विषयताविशेषः ।

वैयधिकरणयम्—तदनधिकरणवृत्तित्वम् तदधिकरणावृत्तित्वम् ।

वैशिष्टयम्—सम्बन्धः । यस्य यत्र यः सम्बन्धः स एव तत्र तस्य वैशिष्टयम् ।

व्यभिचारः—साध्याभाववद्वृत्तित्वम्

श

शक्तत्वम्—कार्योत्पादनयोग्यत्वम् । शक्तिमत्वम् ।

शरीरत्वम्—भोगावच्छेदकत्वम् ।

शाब्दबोधः—एकपदार्थे परपदार्थ संसर्गविषयकं शक्तिज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यं ज्ञानम् ।

स

सखण्डोपाधिः—बहुपदार्थघटितो धर्मः ।

सङ्गतिः—अन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वम् ।

समवायः—अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वम् आकाशादिवारणाय सम्बन्धत्व मितिसंयोगवारणाय सत्यन्तम् ।

सविकल्पकम्—वैशिष्टयाबगाहिज्ञानम् यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम् । इच्छादिवारणाय ज्ञानमिति निविकल्पकवारणाय वैशिष्टयावगाहीति ।

सहकारित्वम्—स्वभिन्नत्वे सति स्वकारणत्वम् ।

साक्षात्सम्बन्धः—यन्निष्ठज्ञसंसर्गतायां प्रतियोग्यनुयोगिविषयतानिरूपितत्वमिति हरिनाथभट्टाचार्यः ।

संसर्गता—सम्बन्धनिष्ठविषयता ।

सादृश्यम्—तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्वम् ।

समनियतत्वम्--व्यापकत्वे सति व्याप्यत्वम् ।

समारवधत्वम्—वर्तमानकालवृत्तिध्वंसप्रतियोग्याद्यकृतिविषयत्वम् ।

समानाधिकरण्यम्—तदधिकरणवृत्तित्वम् ।

संशयः—अनवधारणज्ञानम् । एकस्मिन्नधर्मिणि विरुद्ध (नानाकोट्यवगाहि ज्ञानम्) ।

संसर्गाभावः—संसर्ग प्रतियोगिको भावः तादात्म्यभिन्न सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताको भावो वा । स्थूलशरीरं शुक्रशोणितनिर्मितत्वे सत्यस्थ्यादिसमुदायः ।

स्मृतिः—उद्‌भूतसंस्कारमात्रजन्यंज्ञानम् संस्कारध्वंसेऽति व्याप्तिवारणाय ज्ञानमति, प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिः । वारणाय मात्र पदम् अनुभवे तिव्याप्तिवारणाय संस्कार जन्यमिति असम्भववारणायोद्‌भूतेति ।

स्वतोग्राह्यत्वम्—दोषाभावसहकृतयावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्री (मात्र) ग्राह्यत्वम् ।

सुषुप्तिः—पूरीतता मनः संयोगः ।

स्वरूपयोग्यकारमत्वम्—कारणतावच्छेदकधर्मवत्वम् यथा वनस्य दण्डे ।

स्वरूपसम्बन्धः—प्रतियोग्यनुयोग्यन्यतरात्मकसम्बन्धः सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वम् ।

स्वरूपासिद्धहेत्वाभासः— पक्षे भाववत्वम् ।

स्वारसिकलक्षणा—अधुनातनतात्पर्यविषयीभूतार्थनिष्ठालक्षणा ।

स्वार्थानुमानं—न्यायाप्रयोज्यानुमानम्

स्वार्थानुमितिः—स्वस्य व्याप्य प्रतीत्यन्तरं व्यापकं प्रत्ययः ।

ह

हेत्वाभासत्वम्—अनुमितिकारिणीभावप्रतियोगि यथार्थज्ञानविषयत्वम् ।

हेत्वाभास के पाँचों प्रभेदों का सामान्य विवरण

नाम हेत्वाभास	प्रभेद	लक्षण	नित्य	अनित्य	प्रतिबन्धक	प्रतिवध्य	उदाहरणं	टिप्पणी
अनैकान्तिक (व्यभिचार	१.साधारण २.असाधारण ३.अनुपसंहारी	साधारण द्यन्यतमत्वम्	नवीन और कुछ प्राचीनों के मत से	कुछ प्राचीनों के मत से	व्यभिचारग्रह	व्याप्तिग्रह	१.पर्वतोवहिमान् २.शब्दोऽनित्यः ३.सर्वमभिधेयम्	प्रमेयत्वात् शब्दत्वात् प्रमेयत्वात्
विरुद्ध		हेतुनिष्ठसाध्यव्यापकीभूताभाव प्रतियोगित्ववत्वम्	नवीनोंकेमत से	प्राचीनों के मत से	साध्याभाव व्याप्यहेतुग्रह	साध्यग्रह	अयं गौः अश्वत्वात्	हेतुमे विरुद्धत्व ज्ञान सादधअयाभावनिरूपित व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानरूपे होने के कारण साध्याभावानुमिति होती है, अतः साध्यानुमिति नहीं ॥
असिद्ध	१.आश्रयासिद्ध २.स्वरूपासिद्ध ३.व्याप्यत्वासिद्ध	आश्रयासिद्धान्यन्तमत्वम्परामर्श प्रतिपन्धकयथार्थ ज्ञानविषयत्वं वा	" केवल नित्य है	,,	पक्षादौपक्षतावच्छेकाद्य भाव ज्ञानम्	परामर्श	१.कांचनमय पर्वतो वह्निमान् २.ह्रदोद्रव्यं धूमात् ३.पर्वतो वन्हिमान्नीलधूमात्	साधनाप्रसिद्धि साध्याप्रसिद्धि प्रभृति, व्याप्यत्वासिद्धि में ही आ जाती है। इसलिए विभाग से न्यूनता नहीं है।
सत्प्रतिपक्ष		अगृहीताप्रामाण्यकपक्षधर्मिक साध्यविरोधि व्याप्यवतोपस्थितिकालीन पक्षधर्मिकसाध्यवाप्यवतोपस्थिति विषयत्वम्	नवीनों के मत से	प्राचीनों के मत से	परस्पराभाव व्याप्यवत्ताग्रह	साध्यानुमिति एवं साध्याभावानुमिति		सत्प्रतिपक्षस्थल में दो हेतु रहते हैं, विरोध स्थल में एक ही हेतु रहता है।
कालात्ययापदिष्ट (वाधित)		साध्याभाववत् पक्षकत्वम्	"	"	साध्याभावबत् पक्षज्ञान	पक्षमेंसाध्यवत्ताज्ञान	उत्पत्तिकालीनो घटो गन्धवान्	

हेत्वाभास का विस्तृत चित्र, जो विपक्षमात्र में रहता है वह विरुद्ध साधरण और जो सपक्ष विपक्ष दोनों में रहता है, वह समानाधिकरण साधारण है

नाम हेत्वाभास	प्रभेद और नाम	नित्य वा अनित्यदोष		लक्षण प्रतिबन्धक		प्रतिवध्य		दृष्टान्त		टिप्पणी
		नित्य	अनित्य	प्रा॰ मत	न॰ मत	प्रा॰ मत	न॰ मत	प्रा॰ मत	न॰ मत	
अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) वा अनैकान्तिक (सव्यभिचार)	तीन प्रभेद है (क) साधारण (ख) असाधार (ग) अनुपसहारी	नित्य	अनित्य	(क) . निश्चित साध्य-वद्भिन्न वृत्तित्व	साध्य वदभिन्न-वृत्तित्वत्वादि	साध्य वद्भिन्ना-वृत्तित्व इत्यादि अन्वय व्याप्ति ज्ञान	एवम्	पर्वतो बन्हिमा बन्हिमान् प्रमेयत्वात् (दोनों के मत से)	एवम्	कुछ प्राचीनों के मत से अनित्य औरतद भिन्नप्रचीन एवं नवीनों के मत से नित्य दोष है।
(क) साधारणत्व वासाधारण	विरुद्ध, सामानाधि.	.	.	.	.	.	.	.	.	
(ख) असाधारणत्व (व्यभिचार) वा असाधारण (सम्य-भिचारि) ।	.	(न. मत) नित्य	(प्रा. मत) =	(प्रा. मत) पक्ष मात्र वृतित्व		(न. मत) हेतुनिष्ठ साध्य व्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्व	साध्यसा-मानाधि-करण्य घटित व्याति ज्ञान	पक्षः साध्य-वत्इत्याकारक ज्ञान	शब्दः अनित्य शब्द त्वात्	पर्वतो वन्हिमाप्र् जलात्
अनुपसंहारित्व (ग) (व्यभिचार) वा अनुपसंहारी सव्यभिचारी	.	(न. मत) नित्य	(प्रा. मत) अनित्य	१. साध्यसन्देह-विषय विषयकत्व २ साध्य एवं हेतु निष्ठ अत्यन्ता भाव प्रतियोगित्वत्व	एवम्	एवम्	साध्य सामाना-धिकरण्य ज्ञान	व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान	सर्वमभि धैर्य प्रमेयत्वात् दोनों के मतों से	एवम्
विरोध वा विरुद्ध	.	नित्य	अनित्य	अनबगतसाध्य सहचारत्वेसति अवगत साद्याभाव सहचार कत्व	हेतुनिष्ठ साध्या सामानाधि-करण्य	व्याप्ति ज्ञान	साध्य सामानाधि-करण्यज्ञान		अयं गौः अश्वत्वात् (दोनों के मतों से)	एवम्
३ असिद्धिवा असिद्ध	(३) भेद (क) आश्रयासिद्धि (ख) स्वरूपासिद्धि (ग) व्याप्यत्वासि			परामर्श प्रतिबन्धक यथार्थ ज्ञान विषयत्व	एवम्					
आश्रयासिद्धि (क) आश्रयासिद्ध				पक्षनिष्ठ-पक्षतावच्छेदकाभावत्व .		पक्ष में पक्षता-वच्छेदक ज्ञानचाहे अनुमित्यात्मक हो या परामर्शत्मक	एवम्		कांचनमयपर्वतो वन्हिमान् धूमात्	एवम्

स्वरूपासिद्धि (ख) स्वरूपा सिद्ध १. भागासिद्धि २. तदन्यस्वरूपा सिद्धि	दोप्रभेद ख—भागासिद्धि ख—तद्भिन्न स्वरूपा- सिद्धि (सम्पूर्णासि ,			(ख) पक्षनिष्ठहेत्वभावत्व . १ पक्षैकदेशनिष्ठहेत्वभावत्व २. सकलपक्षनिष्ठहेत्वभावत्व	पक्ष में हेतु का ज्ञान ख—१ पक्ष में हेतु का ज्ञान ख—२ ..	ख—नरोधार्मिक: १—विद्यावत्वात् २—हदोद्रव्यं धू		हृदोवन्हिमान् धूमात्	
ग व्याप्त्वासिद्धि वा व्याप्यत्वासिद्ध	३ भेद ग-साधनाप्रसिद्धि साध्याप्रसिद्धि व्याप्त्याभाववत् हेतु	ग-नित्य ग-१ , ग- , ग-३ ,		साध्यव्याप्यतानवच्छेदक हेतु १ साध्यानेष्टसाध्यता वच्चेदका २ हेतुनिष्ठहेतुतावच्छेदका भाव ३ हेतुनिष्ठव्याप्त्याभावत्व	ताविच्छेदक भावत्व त्व	ग-१ साध्यमे साध्यतावच्छेदककाज्ञान ग-२ हेतुमेहेतुतावच्छेदककाज्ञान ग-३ हेतुमे व्याप्ति ज्ञान		१-पर्वत: काञ्चनमयवन्हि धू २-पर्वतोबन्हिमान् कां. धू ३- ,, नीलधूमात्	
सत्प्रतिपक्षत्व वा सत्प्रतिपक्ष	ग-व्याप्तयभाववत् हेतु	नित्य नवीन	अनित्य (प्राचीन)	साध्यविरोधि साधक परामर्श कालीनसाध्य-साधकपरामर्श विषयत्व	पक्षनिष्ठ साध्या भाव व्याप्यवत्व	पक्ष मे साध्य का ज्ञान	पक्ष मे साध्य का ज्ञान	पर्वतो वन्हि मान् धूमात्	हृदोवन्हिमान् धूमात्
कालात्ययापदिष्टत्व (बाध) वा कालात्यया- पदिष्ट (बाधित)	,	,	,	पक्षनिष्ठ साध्याभावत्व		पक्षमे साध्यका ज्ञान		उत्पत्तिकालीन घटोगन्धवान् पृथिवीत्वात्	

पारिभाषिकशब्दलक्षण

अतिव्याप्ति

लक्ष्यतावच्छेदक (गोत्व) के किसी अधिकरण (आश्रय) में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना ही, अति व्याप्ति दोष होता है। (लक्ष्यतावच्छेदकाभावसमानाधिकरणत्वम्, अतिव्याप्ति:)

अनुव्यवसाय

ज्ञान (यह घट है) की सत्यता का निश्चय करने के लिए, तत्पश्चात् मैंने घट को जान लिया है (अहं घटज्ञानवान्, इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अनुव्यवसाय कहलाता है।

अन्वय

एक वस्तु के रहने पर दूसरी का नियमत: रहना अन्वय कहलाता है। (तत् सत्त्वे तत् सत्त्वमन्वय:) जैसे धूम में रहने पर अग्नि का रहना।

अपवर्ग

दु:ख से सदैव के लिए मुक्तिअपवर्ग कहलाता है। (तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्ग:। (न्या. सू. १/१/२२)

अयुतसिद्ध

जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे पदार्थ के आश्रित ही रहता है, वे दो पदार्थ अयुतसिद्ध (अपृथक्सिद्ध) कहलाते है (ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। (तर्कभाषा)

परिशिष्ट—२

पारिभाषिकशब्दलक्षण

अतिव्याप्ति लक्ष्यतावच्छेदक (गोत्व) के किसी अधिकरण (आश्रय) में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना ही, अति व्याप्ति दोष होता है। (लक्ष्यतावच्छेदकाभावसमानाधिकरणत्वम्, अतिव्याप्तिः)

अनुव्यवसाय ज्ञान (यह घट है) की सत्यता का निश्चय करने के लिए, तत्पश्चात् मैंने घट को जान लिया है (अहं घटज्ञानवान्, इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अनुव्यवसाय कहलाता है।

अन्वय एक वस्तु के रहने पर दूसरी का नियमतः रहना अन्वय कहलाता है। (तत् सत्त्वे तत् सत्त्वमन्वयः) जैसे धूम में रहने पर अग्नि का रहना।

अपवर्ग दुःख से सदैव के लिए मुक्तिअपवर्ग कहलाता है। (तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः। (न्या. सू. १/१/२२)

अयुतसिद्ध जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे पदार्थ के आश्रित ही रहता है, वे दो पदार्थ अयुतसिद्ध (अपृथक्सिद्ध) कहलाते है (ययोर्मध्ये एकमविनश्यद्परांश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। (तर्कभाषा)

असमवायिकरण असमवायिकरण वह कारण है, जो समवायिकारण में रहता है (प्रत्यासन्न), तथा कार्य की उत्पत्ति में जिसका निश्चित सामर्थ्य है। (यत् समवायिकरणप्रत्यासन्नमवघृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्। (तर्कभाषा)

इन्द्रिय भोग के साधन एवं अपने अपने विषय का ग्रहण ही इन्द्रियों का लक्षण है। (स्वविषयग्रहणलक्षणानि इन्द्रियाणि। (वात्स्यायन भाष्य, १/१/१२)

उदाहरण साध्य के सादृश्य से साध्य के धर्म से सम्बद्ध धर्म का भाव जिसमें हो, वह दृष्टान्त उदाहरण कहलाता है। साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावो दृष्टान्त उदाहरणम् (न्यायसूत्र, १/१/३६)

उपाधि जो धर्म साध्य का व्यापक हो, और साधन का अव्यापक हो, उसे उपाधि कहते हैं। (साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः, तर्कभाषा)

कारण अन्यथासिद्धि से शून्यगत कार्य से नियत पूर्ववर्त्ती, कारण कहलाता है। (अन्यथा सिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्त्तिता। (कारिकावली—१६) कारण तीन प्रकार का है—समवायि, असमवायि एवं निमित्त कारण।

जल्प वाद के लक्षणों से युक्त तथा छल, जाति, निग्रहस्थानों से स्थापना एवं प्रतिषेध वाले, पक्ष एवं प्रतिपक्षों का परिग्राहक वाक्य समूह जल्प कहलाता है। (यथोक्तोत्पन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। (न्या. सू. १/२/२

जाति नित्यरूप से अनेक पदार्थों में व्याप्त भाव को जाति या सामान्य कहते हैं। जैसे, मनुष्यत्व एवं गोत्वादि। (नित्यमनेकानुगतं सामान्यम्) साधर्म्य वैधर्म्यभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। (न्याय सूत्र, १/२/१८)

तर्क सम्यक् रूप से अविज्ञात अर्थ में कारणोपपत्तिद्वारा उसके तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करना तर्क कहलाता है। अविज्ञात-तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। (न्या. सू. १/१/४०)

निगमन हेतु कथन के पश्चात् प्रतिज्ञा को पुन: दुहराना निगमन कहलाता है। (हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञाया: पुनर्वचनं निगमनम्। न्यायसूत्र, १/१/३९)

निर्णय: विचार कर पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय निर्णय कहलाता है। (न्यायसूत्र, १/१/४१)

निर्विकल्पक नाम जाति आदि की योजना से रहित ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है। (नामजात्यादियोजनारहितं ज्ञानं निर्विकल्पकम्)

परामर्श साध्यव्याप्तिविशिष्ट हेतु में पक्षवृत्तित्वावगाहि ज्ञान परामर्श कहलाता है। (व्याप्यरूपपक्षवृत्तित्वधी: परामर्श उच्यते। कारिकावली—६८)

प्रतिज्ञा वाक्य में साध्य का निर्देश 'प्रतिज्ञा' कहलाती है। (साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा। (न्यायसूत्र, १/१/३३)

प्रतियोगी जिसका अभाव होता है, उसे प्रतियोगी कहते हैं। अत्यन्ताभाव में प्रतियोगिता संसर्गावच्छिन्न होती है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी संसर्ग विशेष का अवलम्बन करके ही, किसी वस्तु का अन्य वस्तु में अभाव स्वीकार किया जाता है।

बुद्धि 'अर्थ' के ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। (अर्थप्रकाशो बुद्धि:, तर्कभाषा)

मन सुखादि के प्रत्यक्ष का करण मन कहलाता है। (साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते, कारिकावली—८५) सुख-दु:खाद्युपलब्धिसाधनेन्द्रियं मन: (तर्क संग्रह)

रस रसना द्वारा ग्राह्य प्रत्यक्ष का विषय—रस कहलाता है। (रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा (कारिकावली—१०१) रसनाग्राह्यो गुणो रस:। तर्क संग्रह)

लक्षणा शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है। जहाँ तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है, वहाँ लक्षणा से पदार्थ की स्मृति एवं शाब्दबोध होता है। (लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तित:। कारिकावली—८२)

वाद प्रमाण एवं तर्क द्वारा स्वपक्षप्रस्थापन एवं परपक्षनिषेध से युक्त, तथा सिद्धान्तानुकूल, प्रतिज्ञादि पञ्चावयव सम्पन्न, पक्ष-प्रतिपक्षसहित वाक्य समूह को वाद् कहते हैं। (प्रमाणतर्क साधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपन्नपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद:। न्या. सू. १/२/२)

वितण्डा जल्प जब प्रतिपक्ष स्थापनाहीन होता है, तो उसे वितण्डा कहते हैं। (स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा, (न्या. सू. १/२/३)

व्यतिरेक एक वस्तु के न रहने पर दूसरी का न रहना व्यतिरेक कहलाता है। (तदभावे तदभावो व्यतिरेक:)। जैसे अग्नि के अभाव में घूम का भी अभाव देखा जाता है।

व्यापार घटपटादिविषयों के साथ नेत्रादि इन्द्रियों का जो प्रत्यक्षानुकूल सम्बन्ध होता है, उसे व्यापार कहते हैं। (कारिकावली—५९)

व्याप्ति साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। (साहचर्यनियमो व्याप्ति:)। जैसे, जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है (तर्कभाषा) अथवा साध्याधिकरण से भिन्न में हेतु का सम्बन्ध न रहना ही व्याप्ति है। (व्याप्ति: साध्यवदन्यस्मिन्न सम्बन्ध उदाहृत:, कारिकावली, ६८)

शरीर चेष्टाश्रय, इन्द्रियाश्रय तथा अर्थाश्रय, शरीर कहलाता है। (चेष्टेन्द्रियाश्रयः शरीरम् । न्या. सू. १/१/११)

समवाय अयुत सिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय होता है। (अयुत सिद्धयोः सम्बन्धः समवायः, (तर्कभाषा)

समवायिकारण जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो, वह समवायि-कारण है। (यत् समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत् । कारिकावली-१८)

सविकल्पक नामजात्यादि की योजना सहित ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहलाता है (नामजात्यादियोजनासहितं ज्ञानं सविकल्पकम्)

हेतु उदाहरण सादृश्य से साध्य (धर्म) का साधक हेतु कहलाता है।

परिशिष्टम्—३

न्यायवैशेषिकसूत्रसूची (ससन्दर्भा)

(अ.	आ.	सू.	
			अ
३	२	७१	अणुश्यामता
४	१	६७	अणुश्यामता
२	१	४५	अत्यन्तप्रायैकदेश
१	१	५	अथ तत्पूर्वकं
२	२	२७	अध्यापनात्
२	२	४	अनर्थापत्तौ
४	२	२५	अनवस्था
२	२	५२	अनवस्थायित्वे
५	२	२२	अनिग्रहस्थाने ।
३	२२	२४	अनित्यत्वग्रहणात्
४	१	२२	अनिमित्ततः
४	१	२३	अनिमित्त
२	२	५५	अनियमे
५	१	२२	अनुक्तस्यार्थापत्तेः

(अ.	आ.	सू.	
२	२	२०	अनुपलम्भात्
२	१	६१	अनुवादोपपत्तेश्च
३	१	३८	अनेकद्रव्य
१	२	५	अनैकान्तिकः
४	२	२०	अन्तर्बहिश्च
२	२	३१	अन्यदन्यस्मात्
१	१	३१	अपरीक्षित
४	२	४३	अपवर्गेऽप्येवं
३	१	६३	अप्तेजोवायूनी
३	१	४७	अप्रतिघाता
३	२	७	अप्रत्यभिज्ञानं
३	२	५	अप्रत्यभिज्ञाने च
५	२	१६	अप्रत्युच्चारणं
३	१	४५	अप्राप्य ग्रहणं
४	१	१४	अभावाद्भावोत्पत्तिः

३ १ ४३ अभिव्यक्तौ च
२ २ २९ अभ्यासात्
२ १ ६० अभ्युपेत्य कालमदै
३ १ २२ अयसोऽयस्कान्त
४ २ ४२ अरण्यगुहा
५ २ १५ अर्थादापन्नस्य
५ २ २१ अर्थादापत्तितः
२ २ ३ अर्थापत्तिः
३ २ ५८ अलातचक्र
३ १ १० अवयवनाशे
५ २ ११ अवयवविप
४ २ १२ अवयवान्तर
४ २ १५ अवयवावयवि
१ १ ४० अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे
५ २ १७ अविज्ञातं
१ १ १२ अविशेषाभि
१ २ १७ अविशेषे वा
५ २ ६ अविशेषोक्ते
३ २ ४३ अव्यक्तग्रहण
२ १ ४ अव्यवस्थान्मनि
४ २ २२ अव्यूहाविष्टम्भ
२ २ ३४ अश्रवणकारण
२ २ ९ असत्यर्थे
२ २ २२ अस्पर्शत्वात्
२ २ ३८ अस्पर्शत्वात्
४ २ १८ आकाशव्यति
४ २ १९ आकाशसर्व
२ २ ६८ आकृतिर्जाति
२ २ ६३ आकृतिस्तदपे
३ १ १० आत्मनित्यत्वे
३ २ ३१ आत्मप्रेरण
१ १ ९ आत्मशरीर
३ १ ५० आदर्शोदक
३ १ ४८ आदित्यरश्मेः
२ २ १३ आदिमत्त्वात्
१ १ ७ आप्तोपदेशः
२ १ ५३ आप्तोपदेश
४ १ ५१ आश्रयव्यति

इ

१ १ १० इच्छाद्वेषप्रयत्न
३ १ १२ इन्द्रियान्तर
३ १ ५६ इन्द्रियार्थ
१ १ ४ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष
३ २ २१ इन्द्रियैर्मनसः

ई

४ १ १९ ईश्वरः कारणं

उ

५ २ १८ उत्तरस्याप्रति
४ १ ४९ उत्पादव्यय
१ १ ३४ उदाहरण
१ १ ३८ उदाहरणोपेक्षः
५ १ २६ उपपत्तिकारण
२ १ ५१ उपलब्धेः
२ २ ३५ उपलभ्यमाने
५ १ २५ उभयकारमोपपत्ते
५ १ १६ उभयसाधर्म्यात्
२ २ २८ उभयोः पक्ष

ऋ

४ १ ५९ ऋणक्लेशप्रवृत्यनु

ए

५ १ २३ एकधर्मोपपत्ते
३ १ ९ एकविनाशे
४ २ ११ एकस्मिन्
३ १ ६५ एकैकश्येनो
३ २ ६७ एतेनानियमः

ऐ

३ २ ५५ ऐन्द्रियकत्वात्

क

३ १ ३९ कर्मकारितः
३ २ १ कर्माकाश
३ २ ४२ कर्मानवस्थायि
२ २ १७ कारणद्रव्यस्य
५ १ २८ कारणान्तरान्
५ २ १९ कार्यव्यासङ्गा
५ १ ३८ कार्यान्यत्वे
१ २ ९ कालात्ययापदिष्टः
४ १ ४६ कालान्तरेण
५ १ ५ किञ्चित्साधर्म्यात्
३ १ ४६ कुडयान्तरित
२ १ ४४ कृतताकर्तव्यता
४ २ ७ कृत्स्नैकदेशा
३ १ ३२ कृष्णसारे
४ २ १३ केशसमूहे
४ १ १८ क्रमनिर्देशात्
३ २ ६ क्रमवृत्तित्वात्
५ १ २४ क्वचित्तद्धमोपपत्तेः
२ १ २० क्वचिन्निवृत्ति

३ २ १७ क्व चिद्विनाश
३ २२ १३ क्षीरविनाशे
४ २ ४० क्षुदादिभिः

ग

३ १ ३० गन्धक्लेद
३ १ ५८ गन्धत्वाद्यव्य
३ १ ६२ गन्धरसरूप
१ १ १४ गन्धरसरूपस्पर्श
२ २ ५७ गुणान्तरापत्ति
५ १ ३ गोत्वाद्गोसिद्धिवत्

घ

५ १ ८ घटादिनिष्पत्ति
१ १ १२ घ्राणरसनचक्षु

च

१ १ ११ चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय

ज

२ १ ५७ जातिविशेषे
३ २ ३४ ज्ञस्येच्छाद्वेष
३ १ १६ ज्ञातुर्ज्ञानसाधन
४ २ ४७ ज्ञानग्रहणाभ्यास
२ १ २४ ज्ञानलिङ्गत्वात्
५ १ ३१ ज्ञानविकल्पानां
३ २ २५ ज्ञानसमवेतात्म
३ २ ५६ ज्ञानायौगपद्यात्

त

४ १ २१ तत्कारित्वात्
१ २ ११ तत्रिरविधं-वाक्छलं
४ १ ३ तत्त्रैराश्यं
४ २ ३७ तत्त्वप्रधान
२ २ १५ तत्त्वभाक्त्योः
४ २ ५० तत्त्वाध्यवसाय
२ १ १४ तत्प्रामाण्ये वा
२ २ ६ तत्प्रामाण्ये वा
४ १ ५४ तत्सम्बन्धात्
२ २ १० तत्सिद्धेरलछितेषु
२ १ ५ तथात्यन्तसंशयः
४ १ २ तथा दोषाः
५ १ १३ तथाभावात्
१ १ ३५ तथा वैधर्म्यात्
३ २ ६४ तथाऽऽहारस्य
२ १ ४९ तथेत्युपसंहारात्
१ १ २२ तदत्यन्तविमोक्षः
३ २ ६८ तददृष्टकारितं
४ १ २७ तदनित्यत्व

५	१	२९	तदनुपलब्धे:	२	१	४१	तयोरप्यभाव:
२	२	१९	तदनुपलब्धे:	४	१	३१	तल्लक्षणवरोधात्
३	१	३५	तदनुपलब्धे	३	२	३५	तल्लिङ्गत्वात्
२	२	२६	तदन्तरालानुपलब्धे:	४	२	४८	तं शिष्यगुरु
२	१	५८	तदप्रामाण्यं	४	२	५१	ताभ्यां विगृह्य
४	२	४५	तदभावश्चापवर्गे	३	१	७२	तेनैव तस्य
३	१	५	तदभाव:	२	२	५८	ते विभक्त्यन्ता:
२	२	३२	तदभावे नास्ति	४	१	६	तेषां मोह:
२	१	५	तदयौगपद्य	४	२	८	तेषु चावृत्ते:
४	२	५	तदर्थं यम	२	१	२८	तैश्चापदेश:
४	२	५	तदसंशय:	२	१	१५	त्रैकाल्याप्रतिषेध:
३	२	२०	तदात्मगुणत्वेऽपि	२	१	१५	त्रैकाल्यासिद्धे:
३	१	१४	तदात्मगुणत्व	५	१	१८	त्रैकाल्यसिद्धे:
४	२	२८	तदाश्रयत्वात्	३	२	५२	त्वक्पर्यन्तत्वात्
३	१	७३	तदुपलब्धि:	३	१	५३	त्वगव्यतिरेकात्
१	२	२०	तद्विकल्पात्				**द**
२	१	१८	तद्विनिवृत्ते:	३	१	१	दर्शनस्पर्शनाभ्यां
१.	१	३७	तदविपर्ययाद्वा	२	१	२३	दिग्देशकालाकाशेषु
३	१	६९	तद्व्यवस्थानं	१	१	२	दु:खजन्मप्रवृत्ति
३	१	३	तद्व्यवस्थानादेव	४	१	५८	दु:खविकल्पे
१	१	२६	तन्त्राधिकरण	३	१	५१	दृष्टानुमितानां
४	२	३	तन्निमित्तं	३	१	११	दृष्टान्तविरोधात्

५	१	९	दृष्टान्तस्य	२	२	१	न चतुष्ट्व
५	१	३४	दृष्टान्ते च साध्य	४	२	१०	न चावयवी
४	२	२	दोषनिमित्तं	२	१	३३	न चैकदेशो
४	२	१	दोषनिमित्तानां	२	२	६१	न तदनवस्थानात्
२	२	४३	द्विविधस्यापि	३	१	५७	न तदर्थ
३	१	३७	द्रव्यगुणधर्म	१	२	१६	न तदर्थान्तर
२	२	४५	द्रव्यविकारे	३	२	२९	न तदाशुगतित्वात्
३	२	४६	द्रव्ये स्वगुण	२	२	४६	न तद्विकारा
			ध	४	१	८	न दोषलक्षण
१	२	१४	धर्मविकल्प	४	२	४४	न निष्पन्नावश्यं
२	१	३६	धारणाकर्षण	३	२	१५	न पयसः
			न	३	२	४८	न पाकजगुणान्तर
२	१	५९	न कर्मकर्तृ	३	१	६७	न पार्थिवाप्ययोः
२	२	२३	नकर्मानित्यत्वात्	४	१	५३	न पुत्रस्त्रीपशु
४	१	४२	न कारणवयव	४	१	२०	न पुरुषकर्माभावे
३	१	६	न कार्याश्रय	२	१	३२	न प्रत्यक्षेण
३	२	५१	न केशनखादिषु	२	१	१९	न प्रदीप
३	१	४४	नक्तंचरनयन	४	२	१६	न प्रलयोऽणु
४	१	६५	न क्लेशसन्ततेः	३	२	४५	न प्रदीपार्च्चिः
३	२	९	न गत्यभावात्	४	१	६४	न प्रवृत्तिः प्रति
४	१	१२	न घटाद्	३	१	६०	न बुद्धिलक्षण
२	२	१४	न घटाभाव	३	२	४	न युगपत्

३	२	५७	न युगपदनेक
३	१	५४	न युगपदर्था
३	१	४१	न रात्रावपि
३	२	५४	न रूपादीनां
२	२	५४	न रूपादीनां
२	२	११	न लक्षणा
२	२	४६	न विकारधर्म्म
४	१	१७	न विनष्टेभ्य:
३	१	२	न विषय
४	१	३३	न व्यवस्थानु
३	१	७२	न शब्दगुणोपलब्धे:
४	१	४५	न सद्य:
३	१	६४	न सर्वगुणा
४	१	६८	न सङ्कल्प
३	१	२६	न सङ्कल्पनिमित्त
३	२	६२	न साध्यसमत्वात्
२	१	५६	न सामयिकत्वात्
४	१	५६	न सुखस्याप्यन्त
३	२	३०	न स्मरणकाल
३	१	१३	न स्मृते: स्मर्तव्य
४	१	३९	न स्वभावसिद्धे:
५	१	१९	न हेतुत:
३	२	७२	नाकृताभ्यागम
२	२	६५	नाकृक्तितिव्य
२	२	२४	नाणुनित्यत्वात्
२	१	४२	नातीतानागतयो:
४	१	१६	नातीतानागतयो:
२	२	४४	नातुल्यप्रकृतीनां
३	१	१५	नात्मप्रतिपत्ति
३	१	१५	नात्ममनसो:
४	१	२६	नानित्यता
३	१	३६	नानुमीयमानस्य
२	१	६७	नानुवादपुनरुक्तयो:
४	१	३५	नानेकलक्षणै:
३	२	२६	नान्त: शरीर
३	१	२३	नान्यत्र प्रवृत्ति
२	२	३०	नान्यत्वेऽपि
२	१	४८	नाप्रत्यक्षे गवये
२	२	७	नाभावप्रामाण्यं
२	१	३०	नार्थविशेष
४	२	३९	नार्थविशेष
४	१	४८	नासन्न सन्न
५	२	१	निग्रहस्थान
३	२	७०	नित्यत्वप्रसङ्गश्च

२ २२ ५० नित्यत्वे
४ १ ७ निमित्तनैमित्तिक
४ १ ९ निमित्तनैमित्तिक
५ १ ३५ नित्यमनित्यभावात्
४ १ २८ नित्यस्याप्रत्या
२ २ ५१ नित्यानां
४ १ २४ निमित्तानिमित्तयोः
३ २ ३७ नियमानियमौ
३ १ १७ नियमश्च
३ २ ११ नियमहेत्वभावात्
२ २ ५६ नियमानियम
४ १ ४३ निरवयव
५ १ २७ निर्दिष्टकारण
३ १ २९ निःश्वासोच्छ्वास
३ १ ४९ नेतरेतर
३ २ १८ नेन्द्रियार्थयोः
२ १ ३९ नैकदेशत्रास
४ १ ४ नैकप्रत्यनीक
३ १ ८ नैकस्मिन्नासास्थि
३ २ २२ नोत्पत्तिकारण
४ १ ३२ नोत्पत्तिनिमित्तत्वात्
३ २ १२ नोत्पत्तिविनाश
४ १ ३० नोत्पत्तिविनाश
३ १ २० नोष्णशीत
२ २ ४२ न्यूनसमाधिक

प

५ २ ५ पक्षप्रतिषेधे
३ १ १९ पद्मादिषु प्रबोध
३ २ ३६ परश्वादिषु
४ २ १७ परं वा त्रुटेः
३ २ ३९ परिशेषाद्यथोक्त
५ २ ९ परिषत्प्रति
२ १ १० पश्चात्सिद्धौ न
२ २ ३६ पाणिनिमित्त
४ १ ६२ पात्रचयान्तानु
३ १ २७ पार्थिवं गुणान्तर
३ १ २८ पार्थिवाप्यतैजसं
१ १ १९ पुनरुत्पत्तिः
२ १ ५४ पूरणप्रदाह
३ २ ६० पूर्वकृतफलानु
४ २ ४१ पूर्वकृतफलानु
३ १ ६८ पूर्वपूर्वगुणोत्कर्ष
२ १ ९ पूर्वं हि प्रमाण
३ १ १८ पूर्वाभ्यासस्तस्मृति

४	२	९	पृथक्चाववयवेभ्य	५	१	३६	प्रतिषेध्ये
१	१	१३	पृथिव्यापस्तेजः	२	१	२६	प्रत्यक्षनिमित्त
५	२	१०	पौर्वापर्यायोगात्	२	१	३१	प्रत्यक्षमनुमानं
५	२	७	प्रकृतादर्थात्	२	१	२१	प्रत्यक्षलक्षण
२	२	४१	प्रकृतिविवृद्धौ	२	१	८	प्रत्यक्षादीनां
२	२	५४	प्रकृत्यनियमात्	१	१	३	प्रत्यक्षानुमान
३	२	४१	प्रणिधाननिबन्ध	२	१	४७	प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः
३	२	३३	प्रणिधानलिङ्गादि	५	१	१०	प्रदीपोपादान
१	१	३२	प्रतिज्ञाहेतू	४	१	६०	प्रधानशब्दात्
५	२	३	प्रतिज्ञातार्थ	१	२	१	प्रमाणतर्क
५	२	१	प्रतिज्ञाहानिः	४	२	२९	प्रमाणश्चार्थ
५	२	४	प्रतिज्ञाहेत्वोः	२	१	१७	प्रमाणतः सिद्धे
५	२	२	प्रतिदृष्टान्त	१	१	१	प्रमाणप्रमेय
५	१	११	प्रतिदृष्टान्त	४	२	३०	प्रमाणानु
३	२	४९	प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः	२	१	१६	प्रमेया च तुला
४	२	४९	प्रतिपक्षहीनं	५	१	३७	प्रयत्नकार्या
५	१	१७	प्रतिपक्षात्	१	१	१८	प्रवर्तनालक्षणाः
५	१	४१	प्रतिषेध	१	१	२०	प्रवृत्तिदोष
५	१	४२	प्रतिषेधं सदोषं	४	१	१	प्रवृत्तिर्यथोक्ता
५	१	२०	प्रतिषेधानुपपत्तेः	१	१	१७	प्रवृत्तिर्वाग्
२	२	५	प्रतिषेधाप्रामाण्यं	१	१	६	प्रसिद्धसाधर्म्यात्
५	१	३९	प्रतिषेधेऽपि	२	१	४६	प्रसिद्धसाधर्म्यात्

४ १ ६६ प्रागुत्पत्तेः
२ २ १८ प्रागुच्चारणात्
२ २ १२ प्रागुत्पत्तेः
५ १ १२ प्रागुत्पत्तेः
४ १ ४७ प्राङ्निष्पत्तेः
३ २ ६५ प्राप्तौ चानियमात्
५ १ ७ प्राप्य साध्यं
४ १ ५२ प्रीतेरात्माश्रय
३ १ २१ प्रेत्याहाराभ्या

व

४ १ ५७ बाधानानिवृत्तैः
१ १ २१ बाधनालक्षणं
३ १ ४२ बाह्यप्रकाश
१ १ १५ बुद्धिरुपलब्धिः
४ १ ५० बुद्धिसिद्धन्तु
४ २ ३५ बुद्धेश्चवं
४ २ २६ बुद्धया विवेचनात्

भ

३ १ ६१ भूतगुणविशेष
३ २ ६१ भूतेभ्यो

म

३ १ ४० मध्यन्दिनोल्का
३ २ ६९ मनः कर्मनिमित्तत्वात्
२ १ ६९ मन्त्रायुर्वेद
३ १ ३३ महदणुग्रहणात्
४ २ ३२ मायागन्धर्व
४ २ ३५ मिथ्योपलब्धि
४ २ २३ मूर्तिमतां च

य

२ १ ७ यत्र संशयः
१ १ ३० यत्सिद्धावन्य
३ २ ५९ यथोक्तहेतुत्वात्
२ १ ६ यथोक्ताध्यवसायालेव
१ २ २ यथोक्तोपपन्नः
१ १ २४ यमर्थमधिकृत्य
१ २ ७ यस्मात् प्रकरण
३ २ ४७ यावच्छरीर
२ २ ६० याशद्वसमूह
१ १ १६ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः
३ २ १९ युगपज्ज्ञेयानुपलब्धः
२ १ ११ युगपत्सिद्धौ

र

३ १ ३४ रश्म्यर्थसन्निकर्ष
२ १ ३८ रोधोपघात

ल

४ १ ३६ लक्षणव्यवस्थानात्

२ २ ८ लक्षितेषु

३ २ १४ लिङ्गतो ग्रहणात्

१ १ २५ लौकिकपरीक्षकाणां

व

१ २ १० वचनविघातः

५ २ ८ वर्णक्रमनिर्द्देश

२ २ ५१ वर्णत्वाव्यतिरेववंरात्

२ १ ४० वर्तमानाभावः

२ १ ४३ वर्तमानाभा

१ २ १५ वाक्छलमेव

२ १ ६२ वाक्यविभागस्य

२ २ ५३ विकासधर्मित्वे

२ २ ४७ विकारप्राप्तानां

२ २ ४० विकारादेशो

५ २ १६ विज्ञातस्य परि

४ २ ४ विद्याविद्या

२ १ ६४ विधिर्विधायकः

२ १ ६६ विधिविहितस्य

२ १ ६६ विध्यर्थवाद

२ २ ३७ विनाशकारणानुपलब्धे

३ २ २३ विनाशकारणा

२ २२ ३३ विनाशकारणानुपलब्धेः

१ २ १९ विप्रतिपत्तिः

२ १ ३ विप्रतिपत्तौ

२ १ २ विप्रतिपत्त्यव्यवस्थ

३ १ ५५ विप्रतिषेधात्

२ २ ३९ विभक्त्यन्तर

१ १ ४१ विमृश्य पक्ष

४ १ ५५ विविधबाधना

३ १ ५९ विषयत्वाव्यति

३ २ २ विषयप्रत्यभिज्ञानात्

३ १ ६६ विष्टं ह्यपरं

३ १ २४ वीतरागजन्म

४ २ ६ वृत्त्यनुपपत्तेः

४ १ १३ व्यक्ताद्धटनिष्पत्ते

४ १ ११ व्यक्ताद्व्यक्तानां

२ २ ६७ व्यक्तिर्गुण

२ २ ६६ व्यक्त्याकृतिजातयः

२ २ ६४ व्यक्त्याकृतियुक्ते

२ २ ५९ व्यकूत्याकृति

४ १ ५ व्यभिचारादहेतुः

४ १ १५ व्याघातात्

३	२	३२	व्यासक्तमनसः
४	१	४०	व्याहतत्वात्
२	१	२९	व्याहतत्वात्
४	२	२७	व्याहतत्वात्
३	२	१६	व्यूहान्तरात्

श

२	२	२	शब्द ऐतिह्य
४	२	२१	शब्दसंयोग
५	२	१४	शब्दार्थयोः
२	१	५५	शब्दार्थव्यवस्थानात्
२	१	५०	शुब्दोऽनुमानं
३	२	५३	शरीरगुण
३	१	४	शरीरदाहे
३	२	५०	शरीरव्यापितत्वात्
३	२	६६	शरीरोत्पत्ति
२	१	६८	शीघ्रतरगमनोपदेश
३	१	३१	श्रुतिप्रामाण्याच्च

स

३	१	२५	सगुणद्रव्योत्पत्ति
३	१	७०	सगुणानां
४	१	४४	सद्यः कालान्तरे
१	१	८	स द्विविधः
१	२	३	स प्रतिपक्ष
४	२	३८	समाधिविशेष
१	१	२९	समानतन्त्र
२	२	६९	समानप्रसवात्मिका
२	१	१	समानानेक
१	१	२३	समानानेक
४	१	६१	समारोपणात्
१	१	२७	सर्वतन्त्रप्रति
१	१	२८	सर्वतन्त्राविद्धः
५	१	४०	सर्वत्रैवम्
४	१	२९	सर्वं नित्यं
४	१	३४	सर्वं पृथग्भाव
२	१	१३	सर्वप्रमाण
४	१	२५	सर्वमनित्यं
४	१	३७	सर्वमभावः
२	१	३५	सर्वाग्रहणं
३	१	७	सव्यदृष्टस्य
१	२	४	सव्यभिचार
२	२	६२	सहचरण
४	१	४१	संख्यैकान्तासिद्धिः
२	२	१६	सन्तानानुमान
२	२	२५	सम्प्रदानात्

२	१	५२	सम्बन्धाच्च
१	२	१३	सम्भवतोऽर्थस्य
४	२	२४	संयोगोपपत्तेश्च
५	२	२	साधर्म्यवैधर्म्याभ्यम्
१	२	१८	साधर्म्यवैधर्म्याभ्यम्
५	१	१	साधर्म्यवैध
५	१	३२	साधर्म्यात्तुल्य
५	१	१५	साधर्म्यात्संशये
५	१	३३	साधर्म्यादसिद्धेः
२	१	३४	साध्यत्वादवयविनि
३	२	२७	साद्यत्वादहेतुः
५	१	४	साध्यदृष्टान्तयोः
१	१	३३	साध्यनिर्देशः
३	२	३	साध्यसमत्वात्
१	१	३६	साध्यसाधर्म्यात्
५	१	६	साध्यातिदेशात्
१	२	८	साध्यविशिष्टः
५	२	१४	सामान्यदृष्टान्तयोः
१	२	६	सिद्धान्तमभ्यु
५	२	२३	सिद्धान्तमभ्युपेत्य
२	१	७	सुप्तव्यासक्त

२	२	४८	सुवर्णादीनां
४	१	६३	सुप्तस्य स्वप्न
२	१	३७	सेनावनवत्
२	१	६५	स्तुतिर्निन्दा
३	१	५२	स्थानान्यत्वे
३	२	९	स्फटिकान्यत्व
३	२	१०	स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः
३	२	४०	स्मरणं
३	२	२८	स्मरतः शरीर
४	२	३४	स्मृतिसंकल्पवच्च
५	२	२०	स्वपक्षदोषा
५	१	४३	स्वपक्षलक्षणा
४	२	३१	स्वप्नविषयाभिमान
४	२	१४	स्वविषयानति

ह

५	२	१२	हीनमन्यतमेन
५	२	१३	हेतूदाहरण
३	२	४४	हेतूपादानाम्
१	१	३९	हेत्वपदेशात्
४	२	३३	हेत्वभावात्
५	२	२४	हेत्वाभासाश्च

वैशेषिकसूत्रसूची (ससन्दर्भा)

अ.	आ.	सू.		अ.	आ.	सू.	
			अ	४	२	६	अनियतदिग्देश
५	२	१३	अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्	१	२	११	अनेकद्रव्यवत्त्वेन
३	१	६	अज्ञानाच्च	४	१	८	अनेकद्रव्यसमवायात्
७	१	१४	अणुत्वमहत्त्वयो:	७	२	९	अन्यतरकर्मज:
७	१	१६	अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्	१	२	६	अन्यत्रान्त्येभ्यो
७	१	११	अणु महदिति	२	१	७	अन्यदेव हेतु:
४	२	४	अणुसंयोग:	२	२	६	अपरस्मिन्न परम्
७	१	८	अणोर्महतश्च	५	२	१७	अपसर्पणमुपसर्पणम्
७	१	१०	अतो विपरीतम्	५	२	८	अपां सङ्घातो
१	१	१	अथातो धर्मम्	५	२	११	अपां संयोगात्
९	२	१२	अदुष्टं विद्या	५	२	३	अपां संयोगाभावे
६	२	१२	अदृष्टाच्च	३	१	१५	अप्रसिद्धोऽनपदेशाऽसन्
२	१	१३	अद्रव्यत्वेन	७	१	४	अप्सु तेजसि
२	१	११	अद्रव्यवत्त्वेन	२	२	५	अप्सु शीतता
४	१	४	आनित्य इति	५	१	३	अभिघातजे
२	२	२८	अनित्याश्चायम्	५	१	५	अभिघातान्मुसल
७	१	१५	अनित्येऽनित्यम्	२	२	३०	अभिव्यक्तौ दोषात्
७	१	१५	अनित्येष्वनित्या	६	२	२	अभिषेचनोपवास

९ १ ९ अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम्
१० १ ४ अभूदित्यपि
६ २ ८ अयतस्य शुचि
८ २ १ अयमेष त्वया
४ १ १२ अरूपिष्वचाक्षुषाणि
८ २ ३ अर्थ इति द्रव्यगुण-कर्मसु
६ २ ७ अर्थान्तरं च
३ १ ८ अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्य
४ १ ५ अविद्या
७ १ २१ अविद्या च
६ २ ६ अशुचीति
९ १ ३ असतः क्रियागुण
६ २ ९ असति चाभावात्
७ २ १७ असति नास्तीति
९ १ ६ असदिति भूत
१ १ २६ असमवायात्
९ १ १३ असमाहितान्तः करणाः
९ २ २ अस्येदं कार्यकारण
९ २ १ अस्येदं कार्यम्
९ २ ५ अस्येदमिति
३ २ १४ अहमिति प्रत्यगात्मनि
३ २ १८ अहमिति मुख्योप
३ २ ९ अहमिति शब्दस्य

आ

६ २ १६ आत्मकर्मसु
५ २ ६ आत्मकर्म हस्त
९ १ ११ आत्मन्यात्ममनसोः
९ २ ६ आत्ममनः संयोग
९ २ ६ आत्मसमवायात्
५ १ १ आत्मसंयोग
६ १ ६ आत्मान्तरगुणानाम्
५ २ १५ आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ
३ १ १८ आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्
३ २ १ आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे
२ २ १४ आदित्यसंयोगात्
९ २ १३ आर्षं सिद्धदर्शनम्

इ

६ २ १४ इच्छाद्वेषपूर्विका
२ २ १० इत इदमिति
९ २ १० इन्द्रियदोषात्
३ १ २ इन्द्रियार्थाऽप्रसिद्धिः
५ १ १६ इषावयुगपत्
१० १ १ इष्टाऽनिष्टकारणे

७	२	२६	इहेदमिति यतः

उ

७	१	१	उक्ता गुणाः
१	१	७	उत्क्षेपणमपक्षेपणम्
१	१	१३	उभयथा गुणाः

ए

७	१	१२	एककालत्वात्
७	२	१२	एकत्वाभावात्
७	२	३	एकत्वैकपृथक्त्वयोः
७	२	२१	एकदिक्काभ्याम्
१०	१	७	एकदेशे इत्येकस्मिन्
७	१	७	एकद्रव्यत्वात्
२	२	२३	एकद्रव्यत्वान्न
१	१	१७	एकद्रव्यमगुणम्
१०	१	६	एकार्थसमवायि
७	२	२२	एतदनित्ययोः
५	२	२२	एतेन कर्माणि
४	१	१३	एतेन गुणत्वे
२	२	१६	एतेन दिगन्तरालानि
७	१	१७	एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे
७	१	३	एतेन नित्येषु
७	२	१०	एतेन विभागो
९	२	३	एतेन शाब्दं व्याख्यातम्
६	१	१२	एतेन हीनसम
९	१	८	एतेनाऽघटो
२	२	३	एतेनोष्णता

क

१	१	११	कर्म कर्मसाध्यम्
७	१	१५	कर्मभिः कर्माणि
७	२	१२	कर्मभिः कर्माणि
७	२	२४	कर्मभिः कर्माणि
१	२	१५	कर्मसु भावात्
२	१	२४	कारणगुणपूर्वकः
७	१	६	कारणगुणपूर्वकाः
७	२	२२	कारणपरत्वात्
७	१	९	कारणबहुत्वाच्च
१०	२	१	कारणमिति द्रव्ये
१०	२	५	कारणसमवायात्
१	१	३१	कारणसामान्ये
१०	२	६	कारणाऽकारण-समवायाच्च
३	१	६	कारणाऽज्ञानात्
२	१	४	कारणान्तरानु
४	१	३	कारणाभावात्

१ २ १० कारणाभावात्

७ १ २५ कारणाऽयौगपद्यात्

५ २ २६ कारणेन कालः

१० २ ३ कारणे समवायात्

५ २ २४ कारणं त्वसमवायिनो

७ २ ७ कार्यकारणयोरेकत्वैक

१ १ १४ कार्यविरोधि

२ २ १३ कार्य विशेषेण

३ १ १० कार्यं कार्यान्तरस्य

२ १ २५ कार्यान्तराऽप्रादुर्भावाच्च

३ १ ५ कार्येषु ज्ञानात्

१ १ १५ क्रियागुणवत्

९ १ १ क्रियागुणव्यपदेशाभावात्

२ १ १२ क्रियावत्त्वात्

ग

८ १ ८ गुणकर्मसु गुण

१ २ ९ गुणकर्मसु च

८ १ ४ गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु

७ २ १४ गुणत्वात्

१ १ २४ गुणवैधर्म्यात्

२ २ २५ गुणस्य सतोऽपवर्गः

४ २ ३ गुणान्तराऽप्रादुर्भावाच्च

७ २ २५ गुणैर्गुणाः

७ १ २४ गुणैर्दिग्व्याख्याता

५ २ २५ गुणैर्दिग्व्याख्याता

७ २ २४ गुणोऽपि विभाव्यते

१ १ २९ गुरुत्वप्रयत्न

च

६ २ १३ चातुराश्रम्यम्

ज

६ २ १३ जातिविशेषाच्च

८ २ ५ ज्ञाननिर्देशे

त

२ १ ५ त आकाशे

४ २ ५ तच्च शरीरम्

५ २ ९ तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम्

८ १ २ तत्रात्मा मनश्च

४ २ १ तत्पुनः पृथिव्यादि

२ १ २९ तत्तवम्भावेन

२ २ ८ तत्त्वम्भावेन

२ २ १२ तत्त्वम्भावेन

७ २ २८ तत्त्वम्भावेन

९ १ १४ तत्समवायात्

६ २ १५ तत्संयोगो विभागः

१	१	१९	तथा गुणः
१	२	१३	तथा गुणेषु
१	२	१३	तथात्मसंयोगो
२	२	१५	तथा दक्षिणा
५	१	१२	तथा दग्धस्य
९	१	१२	तथा द्रव्यान्तरेषु
८	२	६	तथापस्तेजो
७	२	२	तथा पृथक्त्वम्
६	१	४	तथा प्रतिग्रहः
९	१	७	तथाऽभावे भाव
१०	२	४	तथा रूपे कारणैकार्थ
६	१	१३	तथा विरुद्धानाम्
९	३	७	तथा स्वप्नः
५	१	१२	तथा हस्तसंयोगात्
६	१	९	तददुष्टे न विद्यते
५	२	१६	तदनारम्भ
२	१	३१	तदनुविधानात्
७	१	२३	तदभावादणु मनः
५	२	१८	तदभावे संयोगाभावो
२	१	२१	तदलिङ्गम्
९	२	११	तद्दुष्टज्ञानम्
६	१	६	तद्दुष्टभोजने
६	२	१	तन्मयत्वाच्च
१	१	३	तद्वचनादाम्नायस्य
१०	२	९	तद्वचनादाम्नायस्य
५	२	२	तद्विशेषेणादृष्ट
१०	१	३	तयोर्निष्पत्तिः
३	२	८	तस्मादागमिकः
२	१	१७	तस्मादगमिकः
२	१	१७	तस्मादागमिकम्
४	१	२	तस्य कार्यं लिङ्गम्
३	२	२	तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे
३	२	५	तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे
६	१	८	तस्य समभिव्याहरणे
४	१	१०	तस्याभावादव्यभिचारः
२	१	२२	तुल्यजातीयेष्वर्थान्तर
५	१	१४	तृणे कर्म
५	२	२०	तेजस उष्णता
५	२	२०	तेजसो द्रव्यन्तरेणा-वरणाच्च
२	१	३	तेजो रूपस्पर्शवत्
४	१	९	तेन रसगन्धस्पर्शेषु
२	१	७	त्रपुसीसलौह

			द
५	२	२१	दिक्कालावाकाशं च
६	१	७	दुष्टं हिंसायाम्
३	२	११	दृष्ट आत्मनि
२	२	१८	दृष्टञ्च दृष्टवत्
६	२	१	दृष्टाऽदृष्टप्रयोजनानाम्
१०	२	८	दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानाम्
७	१	१३	दृष्टान्ताञ्च
८	२	२	दृष्टेषु भावात्
३	२	१२	देवदत्तो गच्छति
३	२	१५	देवदत्तो गच्छतीत्यु-पचारात्
५	२	४	द्रवत्वात् स्यन्दनम्
१	१	१८	द्रव्यगुमकर्मणाम्
५	२	१९	द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति
१	२	८	द्रव्यगुणकर्मणाम्
१	१	९	द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति
७	२	२७	द्रव्यगुणकर्मभ्यो
२	१	२७	द्रव्यगुणयोः
७	२	२७	द्रव्यत्वगुणत्व
२	१	२८	द्रव्यनित्यत्वे
२	२	७	द्रव्यत्वनित्यत्वे

२	२	१२	द्रव्यत्वनित्यत्वे
१	२	५	द्रव्यत्वं गुणत्वम्
१	१	२३	द्रव्याणां द्रव्यम्
१	१	१०	द्रव्याणि द्रव्यान्तरम्
१	१	१६	द्रव्याश्रय्यगुणवान्
८	१	७	द्रव्ये द्रव्येगुण
८	१	१	द्रव्येषु ज्ञानम्
८	२	४	द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वम्
८	१	१०	द्रव्येष्वनितरेतर
२	२	३३	द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात्
१	१	२५	द्वित्वप्रभृतयः
			ध
१	१	४	धर्मविशेषप्रसूतात्
४	२	७	धर्मविशेषाच्च
९	२	९	धर्माच्च
			न
२	१	१०	न च दृष्टानां स्पर्शः
२	२	२९	न चाऽसिद्धम्
१	२	२	न तु कार्याभावात्
३	२	१७	न तु शरीर...ज्ञानं विषयः
१	१	१२	न द्रव्यं कार्यकारणञ्चबधति
१	१	२१	न द्रव्याणां गुणकर्म

५	२	५	नाडयो वायुसंयोगात्	५	२	१२	पृथिवीकर्मणा
२	२	२४	नाऽपि कर्म	७	१	२	पृथिव्यादिरूपरस
९	१	१०	नाऽस्ति घटो गेहे	१	१	५	पृथिव्यापस्तेजो
७	१	२०	नित्यम्परिमण्डलम्	२	१	१९	प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्
२	२	२०	नित्यवैधर्म्यात्	४	२	२	प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाणाम्
७	१	१९	नित्ये नित्यम्	२	२	३४	प्रथमा-शब्दात्
२	२	९	नित्येष्वभावात्	५	१	९	प्रयत्नविशेषात्
२	१	२०	निष्क्रमणं प्रवेशनम्	३	२	३	प्रयत्नाऽयौगपद्यात्
७	२	२३	निष्क्रियत्वात्	३	१	१९	प्रवृत्तिनिवृत्ती च
५	२	१६	निष्क्रियाणाम्	३	१	१	प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः
७	२	४	निःसंख्यत्वात्	३	१	१४	प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्
५	१	८	नोदनविशेषादुदसनम्	३	२	४	प्राणापाननिमेषोन्मेष
५	१	८	नोदनविशेषाभावात्				**ब**
५	१	१७	नोदनादाद्यमिषोः कर्म	६	१	१	बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिः
५	२	६	नोदनापीडनात्	६	१	३	बुद्धिपूर्वो ददाति
५	२	१	नोदनाभिघातात्	१	२	४	ब्राह्मणे संज्ञाकर्म
			प				**भ**
२	१	२६	परत्र समवायात्	६	२	४	भावदोष
७	२	२३	परत्वाऽपरत्वयोः	१	२	४	भावोऽनुवृत्तेरेव
२	१	२७	परिशेषात्	३	१	१२	भूतमभूतस्य
६	१	१०	पुनर्विशिष्टे	३	१	१३	भूतो भूतस्य
२	२	१	पुष्पवस्त्रयोः	८	२	५	भूयस्त्वात्

७ २ ५ भ्रान्तं तत्

म

५ १ १५ मणिगमनम्

५ १ ६ महत्यनेक

य

९ १ ५ यच्चान्यदसतः

३ २ ६ यज्ञदत्त इति

१ १ २ यतोऽभ्युदय

५ १ १३ यत्राभावे

२ २ १९ यथादृष्टम्

३ २ १० यदि दृष्टमहमन्वक्षम्

६ २ ५ यदिष्टरूपरस

३ १ १७ यस्माद्विषाणी तस्माद्गौः

३ १ १६ यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः

७ २ १३ युतसिद्ध्यभावात्

र

२ १ १ रूपरसगन्धस्पर्शवती

७ २ १ रूपरसगन्धस्पर्शव्यति

१ १ ६ रूपरसगन्धस्पर्शाः

२ १ २ रूपसरसस्पर्श

१ १ २८ रूपाणां रूपम्

ल

२ २ ३२ लिङ्गच्चानित्यः

ब

२ १ १५ वायुसन्निकर्षे

२ १ १४ वायोर्वायुसम्मूर्च्छनम्

२ २ २० विद्याऽविद्यातश्च

७ २ २२ विभवान्महानाकाशः

३ १ ११ विरोध्यभूतम्

६ १ १६ विशिष्टे: आत्मत्यागः

२ १ ८ विषाणी ककुद्मान्

५ २ ७ वृक्षाभिसर्पणम्

४ २ ११ वेदलिङ्गाच्च

५ २ १० वैदिकं च

१ १ २२ व्यतिरेकात्

३ २ २० व्यवस्थातो नाना

२ २ २ व्यवस्थितः

श

२ १ ३० शब्दलिङ्गाविशेषात्

७ २ १८ शब्दार्थवसम्बन्धौ

३ २ २१ शास्त्रसामर्थ्याच्च

२ २ २१ श्रोत्रग्रहणो योर्थः

स

९	१	४	सच्चासत्
१०	१	५	सति च कार्यादर्शनात्
२	२	२६	सतो लिङ्गाभावात्
४	१	७	सत्यपि द्रव्यत्वमहत्वे
४	१	१	सदकारणवन्नित्यम्
१	१	८	सदनित्यम्
९	१	२	सदसत्
१	२	७	सदिति यतो
१	२	१७	सदिति लिङ्गाऽविशेषात्
४	२	१०	सन्त्ययोनिजा:
३	२	१६	सन्दिग्धस्तूपचार:
२	२	३६	सन्दिग्धा: सति
३	२	१३	सन्दिग्धघास्तूपचारा:
८	१	९	समवायिन: श्वैत्यात्
४	२	८	समाख्या-भावाच्च
६	१	१५	समे आत्मत्याग:
६	१	११	समे हीने वा
२	२	३५	सम्प्रतिपत्तिभावाच्च
२	१	६	सर्पिर्जतु
७	२	२०	सामयिक:
२	१	१६	सामान्यतो दृष्टच्चाविशेष:
३	२	७	सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेष:
			सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाऽप्रत्यक्षात्
८	१	६	सामान्यविशेषापेक्षम्
१	२	१०	सामान्यविशेषा
१	२	१२	सामान्यविशेषा
१	२	१४	सामान्यविशेषा
१	२	१६	सामान्यविशेषा
८	१	५	सामान्यविशेषेषु ...तत एव ज्ञानम्
१	२	३	सामान्यं विशेषं इति
३	२	१९	सुखदु:खज्ञान
६	२	१०	सुखाद्राग:
३	१	३	सोऽनपदेश:
२	१	१८	संज्ञाकर्म
४	२	९	संज्ञाया आदित्वात्
२	२	३७	संख्याभाव:
४	१	११	संख्या: परिमाणानि
१०	२	७	संयुक्तसमवायात्
७	२	११	संयोगविभागयो:
१	१	२०	संयोगविभागवेगानाम्
१	१	३०	संयोगविभागश्च
२	१	२३	संयोगादभाव:

१०	२	२	संयोगाद्वा
२	१	२३	संयोगादभाव:
२	२	३१	संयोगाद्विभागाच्च
५	१	७	संयोगानां द्रव्यम्
५	१	७	संयोगाभावे
७	६	००	संयोगिनो दण्डात्
३	१	९	संयोगिसमवाय्येकार्थं
१०	१	२	संशयनिर्णयान्तराभावश्च
५	१	१८	संस्काराभावे
२	१	४	स्पर्शवान् वायु:
२	१	९	स्पर्शश्च वायो:
९	२	८	स्वप्नान्तिकम्

ह

५	१	११	हस्तकर्मणा दारकर्म
५	२	१४	हस्तकर्मणा मनस:
६	१	१४	हीने पर त्याग:
९	२	४	हेतुरपदेशो

2

न्याय-वैशेषिक

राममूर्ति शर्मा

योऽनूचानः स नो महान्।

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी,

नई दिल्ली-110058